आलोचना : उसके सिद्धान्त

(Principles of literary criticism)

लेखक

साहित्यरत्न डाक्टर सोमनाथ गुप्त एम. ए., पी.एच

अध्यक्ष

हिन्दी-विभाग—जसवंत कॉलेज

जोधपुर

मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास

संस्कृत-हिन्दी-पुस्तक-विक्रेता

गली नन्हेखाँ, कूचा चेलाँ,

दरियागंज, दिल्ली ।

मुद्रक व प्रकाशक

ख़ज़ानचीराम जैन

मनोहर इलेक्ट्रिक प्रेस, कूचा चेलां

तथा

मेहरचंद्र लक्ष्मणदास, दरियागंज

दिल्ली

जिन गुरु-जनों के चरणों में बैठ कर, प्रत्यक्ष अथवा
परोक्ष रूप से विद्याध्ययन किया और जिनका
शुभाशीर्वाद ही सदैव उसका संबल है;
उन्हीं की सेवा में—
शिष्य की भेंट समर्पित है।

विनीत
सोमनाथ गुप्त

Both must alike from Heaven derive their light.
These born to judge, as well as those to write."

Pope.

❀ ❀ ❀

"Not every critic of Art is a genius, but every genius is born a critic of Art. He has within himself the evidence of all rules." Lessing.

❀ ❀ ❀

"मैं अपने कथन (कवित्व) को बादलों में से फूटकर बाहर आने वाली पावस की धार समझता हूँ।"

ऋग्वेद ७ । ६ । १.

❀ ❀ ❀

"जाके लागत तुरत ही, सिर ना धुनै सुजान।
ना वह नीको कविता, ना वह तान, न बान॥"

❀ ❀ ❀

"सम्राट् चाहे अपने क्षण-जीवी स्थूल ऐश्वर्य की रक्षा स्वकीय बाहु-बल से तलवार द्वारा कर ले, परन्तु अपने चिर-जीवी यश की रक्षा तो वह किसी सत्कवि की कृपा से, उसकी वाणी द्वारा ही कर सकता है।"

एक संस्कृत कवि

विषय-सूची

शुद्धि-अशुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	८	में किया	किया
५	४	उसी में से	उसी में से वह
८	१३	व्यक्तित्व	व्यक्ति
११	३	पड़ता	जाता
१७	,,	सजाव	सजीव
१८	६	जा	जो
२२	२१	मान-वृत्ति	भाव-वृत्ति
२६	१२	का	को
३३	१३	शब्दों-लेखक	शब्द-लेखक
४०	१४	नामक	नायक
,,	,,	मुक्तिवाद	भुक्तिवाद
४१	६	इत्यादेः	रत्यादेः
४२	२	अवयवों से	अवयवों से पृथक्
४३	१४	नाम प्रतीत	नाम से प्रतीत
४४	२२	भी	की
४८	११	गम्य-गम्यक	गम्य-गम्यक—
,,	१३	हों। भाव	हों—भाव
५४	१५	कोई भी रस	कोई भी एक या दो रस
५८	७	करने वाली रचना को	करने वाले चमत्कार को
६०	१०	जयदेव	जयदेव ने
६४	३	िशिष्टा	विशिष्टा
६५	७	इसके	रस के
६६	२०	भी	की
७४	१४	Poeties	Poetics
७५	५	Foreignes	Foreigners

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
		जादू	जाहु
९२	१२	एकार्थ-काव्य	एकार्थ-काव्य
९९	४	घूटत	छूटत
१०६	७	तीन	चार
११४	१६	तीन	दो
११८	१५	उसमें	उसका
१२६	,,	वैसा	वैसे
१२८	१२	उनकी	पात्रों की
१२९	३	कारण	कारणवश
१३१	६	भारतेन्दु-	यथा भारतेन्दु-
१३२	२	ज्ञान	ज्ञान
१५८	१४	की	ही
१६२	२०	सभा	सभी
१६४	१२	का	की
१७७	१२	जासूसी	जासूसी धारा
१७८	१५	प्रतीति	अतीत
,,	१७	चारों ओर	चारों ओर
१८०	१०	मानवी	मानवी
१८६	४	घटना का	घटना
१८८	१६	स्थान-चल-संयुक्त	स्थान-चलन-संयुक्त
१९१	१०	जा	जाने
२१७	१२	का	की
२२१	४	'आत्म-कथा' (आत्म-कथानक)	'अर्द्ध-कथा' (कथानक)
२२६	१५	जाता	जानता
			कथा
२२७	१४	सकी	की

...ssionistic

प्राक्कथन

हिन्दी-साहित्य का विकास होता जा रहा है और कुछ साहित्यांगों में वह इतना पूर्ण हो गया है कि उन पर आलोचना-सिद्धांत बन सकते हैं। भारतेन्दु ने 'नाटक' लिखकर ऐसा प्रयास किया था; परन्तु अभी तक उस परम्परा में शिथिलता रही।

वर्तमान युग तक आते-आते हमारे साहित्य पर संस्कृत-साहित्य के अतिरिक्त, अन्य विदेशी भाषाओं के साहित्य का प्रभाव भी पड़ा है; विशेषकर फ़ारसी और अंग्रेज़ी का। परिणाम स्वरूप हमारे साहित्य का विकास कुछ तो स्वतंत्र रूप से हुआ और कुछ दूसरे प्रभावों से मिलकर। द्वितीय श्रेणी में वे साहित्यांग भी आ जाते हैं जिनको यदि हिन्दी-साहित्य में नवीन कहा जाय तो असत्य न होगा। 'उपन्यास' और 'निबन्ध' इसी श्रेणी के हैं। हिन्दी के गीति-काव्य पर भी पश्चिमीय (Lyric) का विशेष प्रभाव है यद्यपि इस शैली की रचना में सूर और मीरा-जैसे भक्तों ने असीम कुशलता प्राप्त की थी। नाटकों की रचना में भी यह प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

ऐसी परिस्थिति में साहित्य को केवल एक ही कसौटी पर परखना उचित नहीं कहा जा सकता। जो साहित्यांग जिस दृष्टिकोण से लिखा गया है उसकी जाँच-पड़ताल उसी आधार पर होनी न्याय-संगत है। हिन्दी-पाठकों के सामने प्रायः यह कठिनाई आती है कि वह अपने अध्ययन का आधार क्या बनाएँ ? पश्चिमी वातावरण के आलोचकों ने

'साहित्य' को 'कला' मानकर भारतीय भावना को एक बड़ा भारी धक्का पहुँचा दिया। हिन्दी के उन्नायक बा० श्यामसुन्दरदास जी भी इस दोष से न बच सके। अपने 'साहित्यालोचन' में उन्होंने पश्चिमीय आलोचना के अनुसार साहित्य का विवेचन 'ललित-कला' के अन्तर्गत किया है और मूर्त-अमूर्त की भावना के आधार पर उसकी उत्कृष्टता को आँका है। इस दृष्टिकोण से साहित्य तथा कला सम्बन्धी भारतीय मूल भावना ही नष्ट हो जाती है। अन्य आलोचकों ने भी इसी पथ का अनुसरण किया है। राष्ट्र-निर्माण के लिए यह दृष्टिकोण घातक है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि हम सत्य को सत्य न कहें। इसका अभिप्राय यह भी नहीं हो सकता कि जो कुछ विश्लेषण द्वारा सत्य सामने आय उसे प्रगट न किया जाय।

काव्य-सम्बन्धी सिद्धान्तों में प्रायः दोनों प्रणालियाँ—भारतीय और अभारतीय—अन्त में एक ही लक्ष्य तक पहुँचती हैं। ऐसी परिस्थिति में अपनी प्रणाली और परम्परा को क्यों त्याग दिया जाय? नामकरण के भेद से तो पूर्ण अन्तर प्रगट नहीं होता। यदि यह कहा जाय कि 'साहित्य में (Propriety) होनी चाहिए' तो इस वाक्य में तथा 'साहित्य में औचित्य रहना चाहिए' इस वाक्य में क्या भेद है? हाँ इतना ही कि Propriety और 'औचित्य' के विवेचन में जो कुछ भी भेद हो—वह विवेचन विद्वानों के पाण्डित्य पर निर्भर है और इसका निर्णय पाठक स्वयं कर सकता है कि किसका मत गंभीर, सर्वांगीण एवं ग्राह्य है। इसी प्रकार नाटक के तत्त्वों में भी दोनों प्रणालियों में समता दिखाई देती है। किसी में एकतत्त्व का विस्तार अधिक

है, किसी में दूसरे का; परन्तु अन्त में 'नाग-नाथ' और 'साँप-नाथ' एक ही हैं।

प्रस्तुत पुस्तक की नींव में भारतीय विचारधारान्तर्गत परम्पराएं हैं। जहाँ उनके सर्वांश से काम चलता है वहाँ उनका वैसा रूप ग्रहण कर लिया गया है; जहाँ उनके रूपान्तर से कार्य-सिद्धि होती है, वहाँ वैसा कर लिया गया है। जो अंश अनावश्यक और असामयिक समझे गए हैं, उनका बहिष्कार कर दिया गया है। दोनों प्रणालियों के साम्य और वैषम्य दोनों का स्पष्ट उल्लेख यथास्थान मिल जायगा।

प्रस्तुत पुस्तक में साहित्यांगों के सिद्धान्तों के क्रम-विकास का भी यथासंभव इतिहास आ गया है। हिन्दी-साहित्य के आलोचना-सिद्धान्तों को इस इतिहास द्वारा समझने और हृदयंगम करने में सुविधा होगी।

पुस्तक में कुछ प्रचलित सिद्धान्त-विषयक 'नारों' (Slogans) की आवश्यकतानुसार आलोचना की गई है। ऐसा करने से परम्परागत मानदण्डों पर मौलिक रूप से विचार करने का अवसर पाठक को मिल सकेगा।

पुस्तक-लेखक ने जो कुछ सोचा है वह हिन्दी में सोचा है और उसी के द्वारा व्यक्त किया है। उसे विश्वास है कि अंग्रेज़ी में सोचने वालों की त्रुटिपूर्ण अभिव्यंजना के दोष से वह बहुत कुछ बच गया है।

पुस्तक के निर्माण में जिन पुस्तकों की सहायता ली गई है उनका उल्लेख यथास्थान कर दिया है। यदि कहीं नहीं होने पाया हो तो लेखक उस भूल के लिए क्षमा-प्रार्थी हैं। दूसरों की चीज़ को वह अपना कहकर

ऊँचा बनना नहीं चाहता। यदि विज्ञ पाठक लेखक का ध्यान इस प्रकार के अंश पर आकर्षित कर देने की कृपा करेंगे तो अगले संस्करण में वह ठीक कर दिया जायगा। इसके लिए लेखक पाठकों का कृतज्ञ होगा।

अन्त में सब लेखकों के प्रति अपना हार्दिक आभार प्रगट करते हुए अपने प्रयास की सफलता-असफलता का निर्णय वह अपने पाठकों पर छोड़ देता है।

सोमनाथ गुप्त

हिन्दी-विभाग,
जसवन्त-कॉलिज, जोधपुर
विजय-दशमी—१-१०-१९४९

[१]

साहित्य : जीवन : समाज

संस्कृत भाषा में 'साहित्य' शब्द अपेक्षाकृत नवीन है। इसके पहले 'वाङ्मय' का प्रयोग होता था। इसी 'वाङ्मय' का एक रूप 'काव्य' था।

'साहित्य' शब्द का प्रयोग किस शताब्दी में आरंभ हुआ और उसका क्रमशः विकास किस प्रकार हुआ ? इन प्रश्नों का उत्तर सरल नहीं है। सब से प्राचीन ज्ञात प्रयोग 'साहित्य' का भर्तृहरि ने (७ वीं शताब्दी) में किया। 'साहित्य' और 'संगीत' एवं कला से विहीन मनुष्य को उन्होंने सींग और पूँछ ही पशु के समान माना है। 'साहित्य, संगीत, कला विहीनः' में तीनों शब्द पृथक्-पृथक् हैं अथवा कला का सम्बन्ध केवल संगीत से है या साहित्य और संगीत दोनों से है यह प्रामाणिक रूप से नहीं कहा जा सकता। ६ वीं शताब्दी में आकर 'साहित्य' का प्रयोग 'विद्या' के लिए होने लगा और उस समय तक प्रचलित चार विद्याओं—पुराण, न्याय-दर्शन, मीमांसा एवं धर्म-शास्त्र का सारभूत होने से पाँचवीं विद्या कहलाया। राजशेखर ने चारों विद्याओं का उल्लेख 'पौरुषेय शास्त्र' के अन्तर्गत किया है जिससे निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि साहित्य विद्या' भी था और 'शास्त्र' भी।

व्यक्ति-विवेक ग्रन्थ की टीका में 'शास्त्र' और 'साहित्य' का अन्तर स्पष्ट कर दिया गया है। टीकाकार का कहना है कि

'शास्त्र में अर्थ-प्रतीति के लिए ही शब्द का प्रयोग किया जाता है परन्तु साहित्य में शब्द और अर्थ दोनों तुल्य-कक्ष होते हैं, न तो कोई घटकर होता है और न बढ़कर'। इस प्रकार साहित्य में शब्द और अर्थ दोनों की समान सार्थकता लेखक ने स्वीकार कर उसे शास्त्र की अपेक्षा अधिक महत्त्व प्रदान किया है।

११ वीं शताब्दी के लेखक विल्हण ने अपने विक्रमांक-देव-चरित महाकाव्य में 'काव्य-रूपी अमृत को साहित्य-समुद्र के मंथन से उत्पन्न होने वाला' माना है।

उपरोक्त विचारों से स्पष्ट है कि 'साहित्य' का अर्थ बहुत व्यापक है। उसमें अर्थयुक्त शब्दों का सन्निवेश आवश्यक है; पुराण, दर्शन एवं धर्मशास्त्र आदि विद्याओं का सारतत्त्व आवश्यक है और वह एक ऐसा महोदधि है जिसमें से काव्य की उत्पत्ति होती है। अतएव 'साहित्य'–शास्त्र, विद्या, काव्य–में से किसी एक का पर्यायवाची नहीं। उसका क्षेत्र इतना विस्तृत है कि उसमें इन सबका प्रवेश अनायास ही हो जाता है यह अवश्य है कि 'काव्य' साहित्य का प्रमुख अंग है और भारतीय साहित्याचार्यों ने अधिकांश में 'काव्य' का ही विवेचन किया है और इस दृष्टि से जो कुछ कवि के लिए आवश्यक है वह तो साहित्यकार के लिए आवश्यक है ही परन्तु साहित्यकार को 'कुछ और' भी होना चाहिए।[1]

---

1. काव्य-सम्बन्धी अध्यायों में इस वाक्य के प्रथमांश पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है और अन्य अध्यायों में शेष अंगों पर।

पाश्चात्य दृष्टिकोण

'साहित्य' और 'काव्य' के विषय में पश्चिमीय विद्वानों ने भी पर्याप्त-मात्रा में लिखा है परन्तु उनके विचारों में किसी सिद्धान्त का तारतम्य नहीं मिलता। यह विशेषता तो केवल भारतीय विवेचन में ही पाई जाती है। कुछ विद्वान् साहित्य को भव्य विचारों का संग्रह, अथवा[1] यह कहकर कि 'साहित्य (पुस्तकों की) वह समष्टि है जिसे मनुष्य आनंद की प्राप्ति के लिए, अथवा उस भावना भरित संस्कृति के उपलाभ के लिए–जो सभ्यता के लिए सुतरां आवश्यक है–पढ़ते हैं और पढ़ते चले जाते हैं,' उसकी[2] परिभाषा करते हैं। हडसन का कहना है कि 'साहित्य' में केवल वही पुस्तकें सम्मिलित हैं जो अपने विषय एवं उसके प्रतिपादन की शैली के कारण साधारणतया मानव के लिए उपयोगी हैं और रुचिकर हैं। इन पुस्तकों में दो बातें अनिवार्य हैं—वाह्य स्वरूप और उसके द्वारा उत्पन्न होने वाला आनन्द[3] इन दोनों के अभाव में कोई भी पुस्तक साहित्य की परिभाषा को सार्थक नहीं करती।

रस्किन ने तो इसी आधार पर साहित्य को दो भागों में विभाजित कर दिया है—वह पुस्तकें अथवा साहित्य जो समय-विशेष और क्षण-विशेष के लिए ही उपयोगी एवं रुचिकर हों और वे पुस्तकें जो सदा के लिए महत्त्वपूर्ण तथा आनन्ददायक

---

1. Emerson 2. Ford Madocks ?—March of Literature. 3. Introduction to the study of Literature.

हों। ऐसा करते समय रस्किन का ध्यान साहित्य की उपादेयता एवं उसके 'प्रेयत्व' की ओर अधिक दिखाई देता है। वास्तव में साहित्य का लक्ष्य उदात्त होना ही चाहिए।

साहित्य और जीवन

जीवन केवल कुछ घटनाओं और क्रिया-व्यापारों का समूह नहीं है। वह तो विकासोन्मुखी प्रवृत्तियों का समष्टिरूप है। इसी कारण जीवन और साहित्य का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनों परस्पर उपकारी क्रियाएँ हैं। साहित्य के अभाव में जीवन नीरस लगता है और जीवन के अभाव में साहित्य एकांगी बन जाता है। कारण स्पष्ट है—मनुष्य में क्रिया-व्यापार है; क्रिया में योजना है और योजना में बुद्धि। यद्यपि बुद्धि का व्यापार सद् और असद्, सुन्दर एवं असुन्दर; उपयोगी तथा अनुपयोगी आदि तथ्यों का निर्णय करना है परन्तु कल्पना से उसका अटूट सम्बन्ध है। देखा जाता है कि अपनी योजना की कल्पना में मनुष्य जितना महान् होता है वैसा ही उदात्त वह अपने जीवन (क्रिया) में भी होता है। समाज इन्हीं महान् और स्वप्न देखने वाले मनुष्यों के बल पर चलता है तथा सबलता की प्रेरणा लेता है। यही कल्पना साहित्य की भी मूल प्राणदायिनी शक्ति है। अतएव जीवन और साहित्य का उद्गम एक ही वस्तु के आधार पर होता है। प्रकृति और पुरुष, सृष्टि और सृष्टिकर्त्ता, कल्पना और बुद्धि की तरह साहित्य तथा जीवन का युग्म भी एक दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता।

आजकल एक प्रमाद चल गया है—हमें किसी साहित्यकार के निजी जीवन पर दृष्टि न डालकर उसकी केवल 'कला' पर ही ध्यान देना चाहिए। यह दृष्टिकोण अनुचित है। साहित्यकार का जीवन ही उसका साहित्य होता है। उसीमें से जीवन-शक्ति और जीवन-सिद्धि प्राप्त करता है। 'सूर, तुलसी, मीरा, प्रसाद' आदि प्रसिद्ध हिन्दी-लेखक ऐसे ही साहित्यकार थे जिनके जीवन और विचारधारा में अपूर्व सामंजस्य था। वे उन अधिकांश आधुनिक लेखकों से भिन्न थे, जो पाश्चात्य सभ्यता-रंजित देश के बड़े-बड़े नगरों में अपना जीवन व्यतीत करते हुए, केवल कल्पना द्वारा श्रमिक और किसानों के दर्दभरे चित्र खींचा करते हैं और जिनका निजी जीवन साहित्य-धर्म से मेल नहीं खाता। ऐसे ही लेखकों के प्रति व्यंग्य करते हुए कहा गया है—

"व्योम-कुंजों की परी ! अयि कल्पने !!
भूमि को निज स्वर्ग पर ललचा नहीं।
व्योम-कुंजों की सखी ! अयि कल्पने !!
आ उतर, हँस ले जरा वन फूल में।"

—दिनकर

जीवन सदैव प्रगतिशील है और जहाँ प्रगतिशीलता नहीं वह जीवन निरर्थक है एवं संज्ञा-शून्य है। यही कारण है कि जीवन और कल्पना के अस्वाभाविक मिलाप में कृत्रिम एवं तथ्य-हीन साहित्य का समावेश हो जाता है। ऐसे साहित्य में रस-

पूर्ण सृष्टि का अभाव रहता है और उसमें वह चमत्कार नहीं आने पाता जो लेखक की सच्चाई और ईमानदारी के कारण पाठकों को अपनी ओर आकर्षित कर ले ! साहित्यकार तभी प्रभावशाली हो सकता है जब वह अपने जीवन को अपनी साहित्यिक विचारधारा से घनीभूत कर दे ! साहित्य में 'सत्य' का भी यही स्थान है।

जीवन विविध-रूपी है और साहित्य भी अनेक-मुखी है। परन्तु दोनों एक दूसरे को तभी महान् बना सकते हैं जब दोनों के प्रभाव में स्थिरता हो। सीधी-सी बात है—साहित्य का ध्येय क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर जितना व्यापक होगा, उसी मात्रा में जोवन की विशालता भी स्वीकृत करनी होगी। यदि साहित्य केवल मनोरंजन की सामग्री है तो उसका ध्येय क्षणिक है। यदि वह हृदय को छूता है तो उसकी भावात्मकता स्पृहणीय है; और यदि वह हमारी बुद्धि को आन्दोलित करता हुआ हमें कुछ सोचने और आगे बढ़ने की प्रेरणा देता है तो वह स्तुत्य है।

साहित्य जीवन को बनाने वाला है, दूसरों के जीवन को समझने का अवसर प्रदान करने वाला है। वह सृष्टि के गर्भ में व्याप्त शक्ति का परिचायक और विश्व-बन्धुत्व का सूचक है, वह युग-धर्म की प्रेरणा का संदेश-वाहक है; नूतन-प्रेरणा, नव-निर्माण और प्रगतिशीलता का अग्रदूत है। साहित्य एक ऐसे वातावरण को उत्पन्न करता है जिसमें भिन्न जातियाँ और सम्प्रदाय अपने-अपने निजत्व की रक्षा के साथ-साथ किसी प्रकार

के भेद-भाव के विना एक दूसरे को गले लगाने के लिए तत्पर रहते हैं। जीवन के ऐसे ही वातावरण में हम उस भविष्य का दर्शन करते हैं जिसमें भाई-भाई परस्पर युद्ध में रक्त की नदियाँ नहीं बहाता, जिसमें एक वर्ग की विलास-प्रियता अपने सुख के उपकरण जुटाने के लिए उत्पादकों का शोषण नहीं करती; जहाँ स्त्री और बालक के ऊपर अत्याचार की पाशविक वृत्तियों का प्रदर्शन नहीं होता वरन् जहाँ पर मनुष्य-मनुष्य रहता है और साथ ही साथ देवता बनने का प्रयत्न करता है। जो जीवन निस्तेज है, सदैव संघर्षमय है, जहाँ क्षण भर के लिए सुखद अवकाश नहीं, जहाँ स्वार्थपरता दूसरों का अपहरण करने पर तुली हो—वह जीवन भी क्या कोई जीवन है और उससे प्रेरणा लेकर क्या कोई साहित्य अपने लक्षण को सत्य बना सकता है ?

साहित्यकार का व्यक्तित्व एक उत्तरदायित्वपूर्ण अस्तित्व है। यदि साहित्यकार केवल उपदेशक बन कर रह जाना चाहता है तो समाज उसे समादृत नहीं करेगा। यदि साहित्य केवल प्रचार (Propaganda) का साधन-मात्र बनकर आगे बढ़ना चाहता है तो वह भी अपने उद्देश्य से गिरा समझा जायगा।

सत्य तो यह है कि जीवन उस रत्नाकर के समान है जिसमें मूल्यवान पदार्थ भी हैं और कंकर एवं घोंघे भी। कबीर के शब्दों में जो इसमें जितना गहरा जायगा उसे वैसा ही अमूल्य रत्न प्राप्त होगा।

आजकल जीवन में 'सेक्स' (Sex) का विवरण भी पर्याप्त-मात्रा में आ चला है। 'सेक्स' का अनुशीलन कोई बुरी बात नहीं है। विवेचन तो होना ही चाहिए परन्तु प्रत्येक वस्तु को मर्यादा के अन्तर्गत रखना ही उचित है। तत्सम्बन्धी साहित्य-सृजन के साथ यह भी देखने की आवश्यकता है कि जिनके हाथ में वह जाता है वे उसके अधिकारी भी हैं या नहीं , किसी बात के प्रति घृणा-मात्र व्यक्त करने से उसका प्रचार नहीं रोका जा सकता। ऐसे प्रश्नों का समाधान मानव-जीवन के दृष्टिकोण से ही होना चाहिए। साहित्य पर इसका बड़ा उत्तरदायित्व है। जनता के मनोभावों को शुद्ध करने में वही सफल हो सकता है। जीवन को बनाना और बिगाड़ना उसके बाएँ हाथ का खेल है।

साहित्य और समाज

मनुष्य का उत्तरदायित्व दो प्रकार का होता है व्यक्तित्व के प्रति और समाज के प्रति। व्यक्तिगत उत्तरदायित्व में उसे पूर्णतः स्वतन्त्रता रहती है और अपनी विचारधारा के अनुकूल वह अपने आचरण एवं-कार्यव्यापार को चाहे जो रूप दे सकता है परन्तु समाजगत कार्यों में उसे अनेक बंधनों का सामना करना पड़ता है और उसकी स्वतंत्रता को सीमित रहना होता है। परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि दोनों एक दूसरे से नितान्त पृथक् हैं। वास्तव में व्यष्टि और समष्टि मानवता के विकास के दो प्रधान पहलू हैं। व्यष्टिगत विचारधारा और तदनुकूल कार्य-व्यापार का प्रभाव समष्टिगत विचारधारा एवं कार्य-व्यापारों पर

पड़ता है और समष्टिगत का व्यष्टिगत पर। इस प्रकार दोनों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। व्यक्ति और समाज का उचित संतुलन ही संतोष और शान्ति प्रदान करता है अन्यथा व्यक्ति और समाज का संघर्ष आरंभ होकर सभ्यता के विकास में बाधक होने लगता है। वर्तमान विषमता का कारण दोनों का असंतुलन ही है।

हम देख चुके हैं कि साहित्य विचारधाराओं को सुरक्षित रखने और उनके आधार पर व्यष्टि एवं समष्टि को विकसित करने का अपूर्व माध्यम है। अतएव समाज और साहित्य का सम्बन्ध स्पष्ट है। जन-जीवन एक अकाट्य सत्य है और उसको प्रदर्शित एवं विकसित करने वाला माध्यम भी अपूर्व सत्य है। इसी कारण देखा जाता है कि साहित्य में निरन्तर बदलते हुए युगों की अभिव्यक्ति हुआ करती है, युग की आत्मा और चेतना का प्रदर्शन उसमें दिखाई देता है।

वैदिक-काल में जब मानव प्रकृति के अधिक निकट था और उसके जीवन में वर्तमान के अवांछित संघ का जन्म नहीं हुआ था तब नगरों के कोलाहल से दूर प्रकृति की गोद में उसने उसके अनुपम सौंदर्य का अनुभव किया था। वैदिक ऋचाएँ उषा, सन्ध्या और धरित्री आदि की प्रशस्तियों से भरी पड़ी हैं। उस युग का समाज दुखों और अभावों से अपरिचित था। कभी-कभी प्रकृति का रहस्यपूर्ण आवरण उसे आश्चर्यान्वित अवश्य कर देता था अन्यथा वह सदैव, अपने चारों ओर परिव्याप्त

उस विराट् सत्ता की संगीतात्मक झंकृति ही से विमुग्ध होकर सरिताओं की मुक्त गति के साथ-साथ साम-गान में प्रवृत्त रहता था।

जीवन की प्रगतिशीलता और समाज के नूतन निर्माण के साथ-साथ उसकी विचारधारा में परिवर्तन हुआ। उसके जीवन में अनेकरूपता आई, उसके समाज-संगठन का चोला भी बदला और परिणामस्वरूप साहित्य के कलेवर में भी परिवर्तन हुआ। जीवन और समाज की गंभीरता में वह बहिर्मुखी न रह सका। अपनी समस्याओं को सुलझाने के लिए समाज को अन्तर्मुखी होना पड़ा। उपनिषदों की ज्ञानगरिमा से साहित्य परिपूरित होगया।

पौराणिक काल के विषय में भी यही कहा जा सकता है। समाज से पृथक् होकर साहित्य क्या कर सकता है? उसे तो प्रेरणा चाहिए और वह मिल सकती है केवल जीवन से। रामायण और महाभारत के चरितनायकों पर दृष्टि-पात करने से एक सत्य प्रगट होता है—उन युगों में व्यक्ति की प्रधानता थी जन-जीवन की नहीं। समाज में व्यक्ति को सब अधिकार प्राप्त थे। यदि राम की तरह वह व्यक्ति समाज की श्रद्धा का पात्र था तो समाज भी उसके कहने के अनुसार जीवन व्यतीत करता था और वह स्वयं छोटी से छोटी बात में भी अपने समाज की अवहेलना करने का दुस्साहस नहीं करता था; और यदि दुर्योधन की तरह केवल अपनी शक्ति और बाह्य

विभूतियों के बल पर कोई व्यक्ति सत्य का तिरस्कार कर अन्याय की ओर प्रवृत्त होता था तो उसका परिणाम भी उसे देर या सवेर में मिल ही पड़ता था। समाज की इन सब व्यवस्थाओं में व्यक्ति का हाथ पर्याप्त था परन्तु न्याय का दण्ड सभी को भुगतना होता था। युग के इसी आदर्श और चेतना को संस्कृत साहित्य के इन दो ग्रन्थों में हम काव्य-बद्ध पाते हैं।

हिन्दी साहित्य का इतिहास भी यही बताता है कि प्रत्येक युग का साहित्य तत्कालीन समाज की विचारधारा और चेतना का प्रतीक है।

हिन्दी साहित्य का इतिहास बताता है कि वीरगाथा-काल का जीवन और समाज सामन्तशाही वर्ग से आच्छादित था। दिन प्रति दिन विपत्तियों से लोहा लेना उस समय का एक साधारण व्यापार था। परिणामस्वरूप कवियों और साहित्यकारों की दृष्टि भी युद्धों और तलवारों की खनखनाहट पर ही जाती थी। जनता का जीवन उसके दृष्टिकोण की सीमा से परे था। रण-क्षेत्र उनकी अनुभूति का क्षेत्र था और उसमें होने वाला कार्य-व्यापार उनकी प्रेरणा का मूल उद्गम था।

जीवन की इस प्रकार व्यस्तता से तंग आना स्वाभाविक था। राजनीतिक परिस्थितियाँ भी आने वाले युग के अनुकूल थीं ही। हिन्दी साहित्य में फिर से ज्ञान और भक्ति का स्रोत लहरा उठा। दीर्घकालीन अशान्ति आत्म-सुख की भावना में अपना

आनन्द-नीड़ खोजने लगी। कबीर, जायसी, सूर, तुलसी आदि ने अपनी वाणी से जन-जीवन को हरा-भरा कर दिया। उनके संदेश में व्यक्ति का आत्मोल्लास भी था और समाज के विकास का दिव्य संदेश भी। साहित्य और समाज कन्धे से कन्धा मिलाकर चलने लगे। व्यक्ति की प्रेम-भावना प्रेम-गीतों में साकार हो उठी। सूक्ष्म से सूक्ष्म मनोभाव उसमें व्यक्त हुए। समाज की चेतना तुलसी के कलियुग-वर्णन में मूर्तिमान हो गई। आत्म-चिंतन और समाज-चिंतन का ऐसा विराट् प्रदर्शन अन्य साहित्य में मिलना दुष्कर है।

वैदिक-काल का सरल समाज आज जिस विषमता को पहुँच गया है, उसी मात्रा में आज का साहित्य भी अनेक विभीषिकाओं में आवृत्त हो गया है। समाज ने जितने 'वादों' को अपनाया, साहित्य को भी उनसे टक्कर लेनी पड़ी और अभी भी वह उनसे उन्मुक्त नहीं हुआ। हो भी नहीं सकता। साहित्य समाज की विचारधारा का प्रतिबिम्ब है और समाज की व्यवस्था में साहित्य एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। जिस प्रकार किसी व्यक्ति की रचना में उसका व्यक्तित्व निहित रहता है उसी प्रकार युग के साहित्य में समाज की चेतना छिपी रहती है।

यह निश्चित है कि साहित्य-गंगा केवल आकाश में नहीं रह सकती। जन-जीवन को, सामाजिक-जीवन को, परिप्लावित करने के लिए उसे मर्त्यलोक में उतरना ही पड़ता है। जिस प्रकार अकेला व्यक्ति संसार की अनुपम विभूति होते हुए भी समाज

से पृथक् अस्तित्व नहीं रख सकता उसी प्रकार उसका साहित्य भी समाज-साहित्य से दूर नहीं जा सकता।

साहित्य और कला

साहित्य और कला दोनों को भारतीय परम्परा पृथक् मानती है। राजशेखर ने अपनी काव्य-मीमांसा में लिखा है कि भारत के दो प्राचीन नगरों में दो प्रकार की परिक्षाएँ होती थीं। काव्य-कार परीक्षा उज्जयिनी में और शास्त्रकार परीक्षा पाटिलीपुत्र में हुआ करती थी। काव्य की गणना विद्या के अन्तर्गत थी और 'कला' की उपविद्या में। कामसूत्रकार ने 'काव्य-समस्यापूर्ति' को कला की सूची में लिखा है—

"श्लोकस्य समस्यापूरणम् क्रिडार्थम् वादार्थम् च"

—कामसूत्र;

परन्तु स्पष्ट है कि साहित्य में 'समस्या-पूर्ति' एक साधारण श्रेणी का कौशल-मात्र समझी जाती थी यद्यपि हिन्दी-साहित्य में समस्यापूर्ति का एक ऐसा काल आया जो उसे बहुत ऊँचा स्थान देने में समर्थ हो सका। अतएव प्रगट है कि 'कला' का जो अर्थ पाश्चात्य विचारकों का है वह भारतीय परम्परा के अनुकूल नहीं है। पूर्व और पश्चिम का यह सांस्कृतिक भेद स्वाभाविक है। भारतीय विचारधारा का आधार प्रत्येक क्षेत्र में आत्मवाद ही रहा है और पश्चिम का भौतिकवाद।

कला के सम्बन्ध में पश्चिम 'मूर्त' और 'अमूर्त' का विधान लेकर अग्रसर हुआ। जर्मन दार्शनिक हेगेल ने इसी आधार पर

साहित्य' का वर्गीकरण 'कला' के अन्तर्गत किया है और वही मत अब तक योरुप में प्रचलित है। परन्तु भारतीय विचारक 'मूर्त' और 'अमूर्त' दोनों को ही ब्रह्म के रूप मानते हैं—

"द्वावेव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं······"

—बृहदारण्यक

उपरोक्त कथन का यह अभिप्राय नहीं कि भारतीय विचारधारा मूर्त और अमूर्त में भेद नहीं मानती। दोनों में भौतिक भेद होते हुए भी 'रूप' तो माना ही गया है। अतएव जब 'अमूर्त' में भी 'रूप' का स्थायित्व है चाहे वह कितना ही सूक्ष्म क्यों न हो, तब साहित्य–जो वर्णमाला द्वारा सुरक्षित रहता है–शुद्ध अमूर्त नहीं कहला सकता।

वास्तविक स्थिति यह है कि भारतीय विचारधारा, ज्ञानात्मक होने के कारण, मूर्त और अमूर्त का भेद हटाते हुए बाह्य और आभ्यन्तर का एकीकरण करने का प्रयत्न करती है। अतएव उसका लक्ष्य रहता है उस सत्य का खोजना जो शाश्वत है। इस सत्य के दो लक्षण हैं—श्रेय और प्रेय, तथा इनकी अभिव्यक्ति होती है दो रूप में—काव्य और शास्त्र। "शास्त्र में 'श्रेय' का आज्ञात्मक ऐहिक और आमुष्मिक विवेचना होता है और काव्य में श्रेय और प्रेय दोनों का सामंजस्य होता है। शास्त्र मानव समाज में व्यवहृत सिद्धान्तों के संकलन हैं जिनकी सीमा उपयोगिता है और काव्य या साहित्य आत्मा को अनु-

भूतियों का नित्य नया-नया रहस्य खोलने में प्रयत्नशील हैं।"[1]

"काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है, जिसका संबंध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं है। वह एक श्रेय-मयी प्रेय रचनात्मक ज्ञान धारा है।"[2]

और 'कला' का सम्बन्ध अधिकांश में हमारे सौंदर्य-बोध से है। साहित्य की अपेक्षा उसका क्षेत्र सीमित और संकुचित है। क्षेमराज ने कहा है—

"कलयति स्व-स्वरूपावेशेन तत्तद् वस्तु परिच्छिनत्ति इति कला व्यापारः" —शिवसूत्रविमर्शिनी

इसी पर टिप्पणी है—

"कलयति, स्वरूपं आवेशयति, वस्तुनि वा तत्र-तत्र प्रमातरि कलनमेव कला।"

[नव-नव स्वरूप प्रथोल्लेख शालिनी संचित वस्तुओं में या प्रमाता (आत्मा अथवा चेतन पुरुष) में स्व को, आत्मा को परिमित रूप में प्रकट करती है—इस क्रम का नाम कला है।]

शैवागमों में ३६ तत्त्व माने गए हैं, उनमें से कला भी एक तत्त्व है। ईश्वर की कर्तृत्व, सर्वज्ञत्व, पूर्णत्व, नित्यत्व और व्यापकत्व शक्ति के स्वरूप कला, विद्या, राग, नियति, और काल माने जाते हैं। शक्ति-संकोच के कारण जो इन्द्रिय-द्वार से शक्ति का प्रसार एवं आकुंचन होता है, इन व्यापक शक्तियों का वही संकुचित

१, २. प्रसाद—काव्य और कला

रूप बोध के लिए है। कला संकुचित कर्तृत्व शक्ति कही जाती है। इसी कारण हमारे यहाँ कला को उपविद्या माना है।

संक्षेप में साहित्य अनुभूतिजन्य है और कला अभिव्यक्ति-जन्य। अनुभूति में जितनी व्यापकता है, अभिव्यक्ति में वह उस मात्रा में नहीं पाई जाती। साहित्य में श्रेय और प्रेय के सामंजस्य के साथ आनन्द का समावेश है, कला में सौंदर्य-बोध की प्रेरणा के साथ आनन्द प्रदान करने की शक्ति।

साहित्य के मूल तत्त्व

"साहित्य आत्मा की संकलपात्मक अनुभूति है अर्थात वह आत्मा की मनन शक्ति की वह असाधारण अवस्था है जो श्रेय सत्य को उसके मूल चारुत्व में ग्रहण कर लेती है। यह असाधारण अवस्था युगों की समष्टि अनुभूतियों में अन्तर्निहित रहती है क्योंकि सत्य कोई व्यक्तिगत सत्ता नहीं; वह एक शाश्वत चेतना है, एक चिन्मयी ज्ञान-धारा है जो व्यक्तिगत स्थानीय केन्द्रों के नष्ट हो जाने पर भी निर्विशेष रूप से विद्यमान रहती है।"

अतएव साहित्य का प्रथम मूल तत्त्व वह है जो आत्मा की अनुभूति को दूसरों के सामने रखने और उसके द्वारा उनके (पाठकों अथवा देखने वालों) मनोवेगों को तरंगित करने में सफल और सहायक होता है। लेखक अपने हृदय में उद्भूत भावनाओं को जिस शक्ति द्वारा अभिव्यक्त करता है उसे 'कल्पना' कहते हैं। यह 'कल्पना' ही साहित्य का प्रथम मूल

तत्त्व है।

साहित्यकार अपने मनोभावों को मूर्त रूप देना चाहता है और अपने वर्णन को इतना सजीव एवं सांगोपांग बनाना चाहता है जिससे पढ़ने वाले का हृदय भी उसी के समान आन्दोलित हो उठे। स्वयं साहित्यकार के हृदय में भी पदार्थ को देखने से एक मधुर संवेदन होता है। वस्तु या पदार्थ का बाह्य रूप ही सर्वप्रथम लेखक के मनोवेगों को जागृत करता है। उसके चर्म-चक्षु पदार्थ के सौंदर्य को देखकर एक विचित्र आनन्द-अवस्था का अनुभव करते हैं। यह अनुभव केवल उसी समय तक नहीं रहता जब तक वह पदार्थ लेखक की आँखों के सामने रहता है वरन् पदार्थ के हट जाने पर—उसके स्थूल स्थायित्व के अभाव में भी—सौंदर्य की अनुभूती उसमें स्थिर रहती है अर्थात् पदार्थ की छाया की प्रतीति लेखक के मस्तिष्क में अंकित हो जाती है। यह संभव है कि इस दूसरी 'छाया की प्रतीति' का अंकन इतना स्पष्ट और गहरा न हो जितना पदार्थ के चक्षु-समक्ष होने पर रहता है परन्तु यह निर्विवाद है कि 'अंकन' रहता अवश्य है! जो शक्ति यह अंकन करने में समर्थ होती है, वही 'कल्पना' है।

कल्पना द्वारा लेखक आँखों-देखे दृश्य को ज्यों का त्यों भी चित्रित कर देता है और अन्य पदार्थों एवं संसर्गों के साथ मिलाकर नई-नई छाया-प्रतीतियों की भी सृष्टि कर जाता है। इस प्रकार 'कल्पना का कार्य दो रूप में प्रगट होता है'—देखी

हुई वस्तु का यथातथ्य चित्रांकन (स्मृति-जन्य) एवं नूतन चित्र-सृष्टि (सृजनात्मक)। दूसरे अर्थ में ही 'कल्पना' सृजनात्मक कहलाती है। यदि कहा जाता है कि 'कामायिनी' कविवर 'प्रसाद' की अनुपम सृष्टि है, तो इस वाक्य का अर्थ यह नहीं होता कि 'कामायिनी' पहले थी ही नहीं और उसका जन्म 'प्रसाद' द्वारा हुआ। इस वाक्य का अर्थ स्पष्टतया यही होता है कि चाहे कामायिनी पहले रही हो या न रही हो परन्तु वह कामायिनी जिसको 'प्रसाद' ने अंकित किया वह किसी दूसरे के द्वारा चित्रित नहीं हुई। प्रसाद की कामायिनी में जो अन्य की अपेक्षा 'कुछ नूतनता' दिखाई देती है, इस 'कुछ और' में ही कल्पना द्वारा उसकी नवीन सृष्टि की सार्थकता है।

कल्पना तत्त्व के द्वारा साहित्यकार जीवन के सत्य को, श्रेय एवं प्रेय को कलात्मक ढंग से हमारे सामने रखता है। वह पदार्थों और उनके द्वारा उद्भूत ऐसे मनोवेगों को हमारे सामने रखता है जिनका अस्तित्व चाहे न भी रहा हो परन्तु जिनकी संभावना सत्य है और जो वास्तव में प्रकृति की विशालता को और अधिक विस्तृत करने एवं उसे भव्य बनाकर मनुष्य को उदात्त बनाने में समर्थ हैं।

पश्चिमीय साहित्यकारों ने 'कल्पना' के अर्थ में दो शब्दों का प्रयोग किया है—Imagination और Fancy. इनका परस्पर अन्तर बताते हुए वर्ड्सवर्थ का कहना है कि "Fancy का काम हमारी प्रकृति के अस्थायी अंश को वेगवान् एवं अतिवद्ध करना

है तथा Imagination का कार्य स्थायी को उत्तेजित करना एवं आलम्बन देना है।"

लेहंट ने Imagination का सम्बन्ध दुख तथा गंभीर चिंतन से माना है और Fancy का सुख से। इसरसन Fancy का सम्बन्ध रंग से जोड़ते हैं और Imagination का आकृति या रूप से।[3] परन्तु सर लेस्ली स्टीफ़ेन दोनों के भेद को थोड़ा और स्पष्ट करने का प्रयत्न करते हुए कहते हैं कि Fancy का क्षेत्र ऊपरी अनुरूपता का वर्णन करना है और Imagination का क्षेत्र उस गहरे सत्य का वर्णन है जो ऊपरी अनुरूपताओं के अन्तराल में गुप्त रहता है।[4]

संक्षेप में कल्पना का सम्बन्ध चक्षुरिन्द्रिय से है परन्तु यह कार्य दो प्रकार से सम्पूर्ण होता है—स्मृति-जन्य चित्रों के अंकन

---

1. "Fancy is given to quicken and to beguile the temporal part of our nature, imagination to incite and support the eternal."

2. "Imagination belongs to tragedy or the serious muse, fancy to the comic.' Leigh Hunt.

3. Fancy is related to colour, imagination to form.

4. "The distinction between fancy and imagination is, in brief, that fancy deals with the superficial resemblances and imagination with the deeper truths that underlie them."

से और नूतन-चित्र-सृजन से। साहित्य में वस्तु-वर्णन के लिए कल्पना का पहला भेद काम में आता है और मनोवेगों के वर्णन में दूसरा क्योंकि लेखक अपना वर्ण्य तो सदैव साधारण जीवन से लेता है। 'प्रिय-प्रवास' में प्रकृति का यथातथ्य चित्रण वस्तु-वर्णन ही है और 'कामायिनी' में वही आभ्यान्तरिक (Subjective) है। कवि को वेदों में जो 'द्रष्टा' कहा गया है उसका कारण भी उसके केवल चर्म-चक्षु नहीं वरन् प्रज्ञा-चक्षु ही है। अपनी कल्पना के सत्य और अनुभव से ही कवि वर्तमान का द्रष्टा और भविष्य का अग्रदूत बनता है।

साहित्य का दूसरा महत्त्वपूर्ण तत्त्व 'बुद्धि-तत्त्व' है।

'साहित्य' और 'जीवन' का सम्बन्ध बताया जा चुका है। साहित्य के समस्त उपकरण जीवन में मिलते हैं और वहीं से उन्हें चुना भी जाता है। परन्तु इन उपकरणों का संचय साधारणतया ही नहीं हो जाता। जीवन की प्रत्येक घटना समान महत्त्व नहीं रखती और न सारा क्रिया-व्यापार उदात्त साहित्य के लिए आवश्यकीय ही होता है। सत्य तो यह है कि इसका निर्णय कि जीवन का कौन-सा अंश लिया जाय और कौन-सा त्यागा जाय, इस प्रश्न पर निर्भर है कि जीवन के प्रति साहित्यकार का और इस प्रकार परोक्ष रूप से व्यक्ति एवं समाज तथा युग का दृष्टिकोण क्या है ? साहित्य में 'यथार्थ' और 'आदर्श', 'नीति' तथा 'अनीति' एवं 'सदाचार' और 'दुराचार' अथवा 'श्लील' तथा 'अश्लील' आदि प्रसंगों क

सम्बन्ध इसी प्रश्न के उत्तर से है। उत्तर के अनुरूप ही उपकरण साहित्य की अमूल्य निधि बनते हैं और उन्हीं का कलात्मक समावेश साहित्यकार द्वारा होता है। 'अच्छाई और बुराई', 'सत्य और असत्य', 'उपयोगी और अनुपयोगी' आदि प्रश्नों का निर्णय जिस शक्ति के आधार पर किया जाता है वही 'बुद्धि' है।

ऊपर 'सत्य' की बात कही गई है। 'साहित्य का सत्य' क्या है यह भी विचारणीय विषय है। दार्शनिक भाषा में जो नित्य है वही सत्य है; जो शाश्वत है वही सत्य है। असत्य के ऊपर इसी सत्य की सदैव जय होती है। जब 'सत्य' की यह मनस्-कल्पना व्यावहारिक क्षेत्र में आती है तो मानव बड़े असमंजस में पड़ जाता है। स्वयं दार्शनिक भी 'सत्य' का एक-मात्र निर्णय करने में असमर्थ रहे हैं। यही कारण है कि 'किसी का ब्रह्म सत्य है तो जगत् मिथ्या है'; 'किसी का ब्रह्म भी सत्य है और जगत् भी सत्य है; और 'किसी का ब्रह्म एवं जगत् सत्य भी है और असत्य भी'। इन 'वादों' के झमेले में पड़कर मानव ऋत (सत्य) और अनृत (असत्य) का फ़ैसला करने में असफल ही अधिक रहा है। परिणामस्वरूप उसकी विषमताएँ और साथ-साथ जीवन की जटिलताएँ भी उत्तरोत्तर बढ़ती गई हैं। आज वह जीवन को एक-मात्र 'संघर्ष' मान बैठा है। इन्हीं परिस्थितियों के कारण साहित्य में भी अस्पष्टता और जटिलता आ गई है। साहित्यकार के पात्र कार्य-

व्यापार में ग्रस्त ऐसे प्राणी बन बैठे हैं जिन्होंने असफल होकर या तो प्राण त्याग कर दिया और या जान-बूझ कर आत्म-हत्या कर ली। निरन्तर प्रयत्न करके भी असफल होने अथवा प्रयत्न में मृत्यु हो जाने से कोई विशेष हानि नहीं। ऐसे उदाहरण तो जीवन का संबल बनते हैं, परन्तु जो साहित्य आत्म-हत्याओं से भरा हो, अथवा जिसमें सफलता की अपेक्षा असफलता का अधिक बोलबाला हो—साहित्यिक भाषा में जिसमें Tragedy अधिक हो और Comedy कम हो—वह जीवन के लिए प्रेरणार्थक किस प्रकार हो सकेगा ?

तो सफलता और असफलता दोनों जीवन के 'सत्य' हैं, परन्तु केवल इसीलिए तो एक प्रकार के 'सत्य' का साहित्य में समावेश उचित नहीं। देखना यह भी चाहिए कि किसी की रुचि के अनुकूल सत्य-पक्ष का ग्रहण करने से साहित्य अपने लक्ष्य को कितना सिद्ध कर सकेगा ? अर्थात् व्यक्ति की रुचि की अपेक्षा समष्टि के कल्याण की ओर ध्यान देना अधिक आवश्यक है। यही काम है 'बुद्धि' का। यह कह देना कि 'कला' में कोई भी 'श्लील' एवं 'अश्लील' का स्थान नहीं तात्त्विक दृष्टि से ठीक हो सकता है परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से यह विचार अनुचित है। जीवन ऐसी वस्तु नहीं है जिससे खिलवाड़ किया जाय। सब बातों का अनुभव प्रत्येक साहित्यकार को नहीं हो सकता अतएव उसे दूसरों से भी कुछ लेकर आगे चलना होता है, क्या लेना और कितना लेना तथा किस प्रकार लेना—इन्हीं क

निर्णय साहित्यकार की बुद्धि करती है।

बुद्धि-तत्त्व के इस प्रसंग में एक और ध्यान रखना आवश्यक है। साहित्य में बुद्धि का प्रवेश इतना अधिक नहीं होना चाहिए जिससे साहित्य 'शास्त्र' बन जाय अथवा हेतुवाद का क्रीड़ा-क्षेत्र। संस्कृत साहित्य में वैद्यक जैसा विषय भी जब छन्दों में लिखा जाने लगा तो सहृदयों ने अपना माथा ठोक लिया। 'शास्त्र' और 'काव्य' का स्थान पृथक्-पृथक् है। एक को दूसरे का स्थान लेने का प्रयत्न करना अनधिकार चेष्टा है। साहित्य को किसी प्रकार के प्रयोगों का वर्णन करने के लिए माध्यम मान बैठना अथवा उसे तर्क से लाद देना 'साहित्य' के मौलिक लक्षण का ह्रास है।

बुद्धि-तत्त्व द्वारा साहित्य का निर्माण भी होता है और अवांछित आक्रमणों तथा अनियंत्रित प्रवेशों से उसकी रक्षा भी।

साहित्य का तीसरा तत्त्व है—'भाव अथवा मनोवेग' जिसे 'रागात्मक तत्त्व' भी कहा जाता है।

साहित्य ही क्या सभी व्यापारों की प्रेरणात्मक शक्ति मानवी इच्छाएँ (काम) है। आवेग (Emotions) इन्हीं इच्छाओं के सहयोगी हैं। क्रिया-व्यापार से युक्त इच्छाओं से 'संवेदनाओं' (Feelings) की उत्पत्ति होती है। ये इच्छाएँ विभिन्न संवेदनाओं की शृंखला की कड़ियाँ हैं। यदि इनमें कोई अवरोध हो जाता है तो एक बृहत् घर्षण, मान-वृत्ति (Passion) अथवा विषाद का जन्म होता है जो असफल इच्छाओं का किसी अभाव की

अनुभूति का निश्चयात्मक प्रभाव। वर्ड्सवर्थ और कालरिज ने इसी आधार पर, कविता में भाव-वृत्ति (Passion) का समावेश किया है। कोई भी साहित्यिक अभिव्यक्ति तब तक कविता या काव्य की कोटि तक नहीं पहुँचती जब तक उसमें गंभीर आवेगों का समावेश न हो क्योंकि बिना आवेग के किसी प्रकार की सृष्टि संभव नहीं। वर्ड्सवर्थ ने कविता की परिभाषा में जहाँ उसे 'शक्ति-सम्पन्न संवेदनाओं का स्वतःप्रवर्तित प्रवाह' माना है वहाँ उसने यह भी कहा है कि कविता का जन्म शान्ति में संचित आवेगों से ही होता है।[1] कालरिज ने भाव-वृत्ति को ही कविता में 'सब कुछ' समझा था परन्तु पो (Poe) का मत इनसे थोड़ा भिन्न था। उसकी सम्मति में 'कविता और भाव-वृत्ति विसम्वादी हैं'। परन्तु उसका विचार था कि संभवतः भाव-वृत्ति 'कल्पना' को जागृत करती है और वास्तविक कविता-वातावरण (Poetic Mood) उस समय होता है जब कल्पना भाव-वृत्ति पर विजय प्राप्त कर लेती है।[2]

कवि-मस्तिष्क का विवेचन वर्ड्सवर्थ ने अपनी पुस्तक की भूमिका में अच्छा किया है। भारतीय आचार्यों ने इसके अन्तर्गत भाव और उसके विभिन्न रूप—संचारी एवं स्थायी—तथा भाव के आलंबन, उद्दीपन तत्त्वों का बड़े विस्तार से वर्णन

1. "...it takes its origin from emotion recollected in tranquillity. Preface to the lyrical Ballads .

2. Critical writings of Poe, ed F. C. Prescott P.344.

किया है। भावों की अभिव्यंजना का विवरण भी अन्य अवयवों की व्याख्या के समान बड़ा मनोवैज्ञानिक और सांगोपांग है।[1] वे मानते हैं कि स्वाभाविक 'वासना' के रूप में भाव या मनोवेग प्रत्येक प्राणी के हृदय में विद्यमान रहते हैं। उन्हें आन्दोलित करने के लिए एक शक्ति-विशेष की आवश्यकता होती है। तरंगायित हो जाने पर मनोवेग दो प्रकार का रूप धारण करते हैं—क्षणिक अथवा स्थायी। साहित्य में दोनों का उचित स्थान है परन्तु 'रस' की संज्ञा को प्राप्त होने वाला 'स्थायी भाव' ही है। भारतीय आचार्यों द्वारा वर्णित 'स्थायी भाव' वर्ड्सवर्थ के 'शान्ति में संचित आवेग' का ही पर्यायवाची है। भेद इतना ही है कि जहाँ अंग्रेजी कवि केवल 'भावों', 'मनोवेगों' और 'संवेदनाओं' तक ही अपने को सीमित रखकर काव्य के आस्वादन में प्राप्त आनन्द का वर्णन करता है वहाँ भारतीय विचारक कवि-मस्तिष्क की प्रक्रिया के साथ-साथ उसके सिद्धान्तिक तथ्य का विवेचन भी सफलता से कर देता है। 'नायक-नायिका भेद' का शृङ्गार रस की दृष्टि से चाहे जो उपयोग हो परन्तु मनोवेगों के अध्ययन की दृष्टि से उसका बड़ा महत्त्व है। मानव-प्रकृति और स्वभाव का बड़ा सूक्ष्म विवेचन इस प्रसंग में मिलता है।

अतएव भावों और मनोवेगों का साहित्य में स्वाभाविक महत्त्व है। साहित्य जहाँ रचनात्मक है वह वहाँ किसी वस्तु का

---

1. देखो अध्याय ३.

रक्षक भी है। युगों की विचारधारा को-विभिन्न कालों की जनता के मनोवेगों को-साहित्य लिपिबद्ध करता है और इस प्रकार उन्हें अक्षय बना डालता है। यदि भावों का मूल्य न होता तो कौन इतना कष्ट करता ? वाल्मीकि और व्यास, कालिदास और भवभूति, तुलसी एवं सूर, 'रत्नाकर' तथा 'प्रसाद' अपने भौतिक शरीर के अभाव में भी आज हमारे सामने मूर्तिमान हैं—केवल अपने उन भावों और मनोवेगों के कारण जो उनके ग्रन्थों में सुरक्षित हैं और जिनको पढ़कर हमारे मनोवेग केवल उद्वेलित ही नहीं हो जाते वरन् एक तादात्म्य का भी अनुभव करते हैं। गांधारी के ये शब्द—

'जयस्तु पाण्डु-पुत्राणाम येषां पक्षे जनार्दनः'

किसके हृदय को द्रवीभूत नहीं कर देते ? पुत्र-वात्सल्य से ओत-प्रोत माता न्याय के पक्ष का समर्थन करती हुई किसके मन को अपने वशीभूत नहीं कर लेती ? अर्जुन के यह वाक्य सुनकर 'न कांक्षे विजयं कृष्ण ! न राज्यं न सुखानि च' किसके मोह को आन्दोलित नहीं कर डालते ? कौन-सा गृहस्थी महात्मा कण्व के साथ एकात्म्य का अनुभव नहीं करता।

वनमार्ग में जाती हुई तुलसी की सीता की सरलता पर कौन मंत्रमुग्ध नहीं हो जाता ? सूर की गोपिकाओं की विरह-वेदना में कौन-सा पत्थर का कलेजा नहीं पिघल उठता ? 'रत्नाकर' की विचार-तरंगों में कौन नहीं बह जाता ? और 'प्रसाद' की उदात्त भाव-माला किसके हृदय में सौरभ का संचार नहीं कर देती ?

मनोवेग, उनका सुन्दर और स्वाभाविक वर्णन यही तो साहित्यकार की सृष्टि है। इन्हीं के द्वारा वह सत्य, शिव और सुन्दर का शान्त से मेल कराता है। यदि साहित्य से मनोवेगों और उनके चित्रों का बहिष्कार कर दिया जाय तो उसमें रह ही क्या जायगा ?

परन्तु एक बात है। मनोवेग 'व्यक्तिगत' भी होते हैं और 'विश्वजनीन' भी। आदर्श और स्थायित्व की दृष्टि से वही साहित्य उत्कृष्ट माना जाता है जिसमें विश्वजनीन भावों और मनोवेगों का चित्रण हो। ऐसा साहित्य किसी एक युग-विशेष की सम्पत्ति नहीं होता, वह भी सर्व-कालीन (For all times) होता है। मनोवेगों का 'नवरस' के अन्तर्गत जो वर्गीकरण भारतीय आचार्यों ने किया है वह इसी दृष्टिकोण से। यह वर्गीकरण उनके मानव-मस्तिष्क के विशाल और परिपक्व अध्ययन का परिचायक है। स्थायी मनोवेगों से ही उच्च प्रबन्ध काव्य की सृष्टि होती है। साहित्य के विभिन्न रूपों के अन्तर्गत जो अति-कुशल साहित्यांश (Master-pieces) लिखे जाते हैं उनके मूल में यही प्रेरणा विद्यमान रहती है। उनमें वर्णित मानव-स्वभाव का अध्ययन सदा एक-रस रहता है।

व्यक्तिगत-मनोवेगों का भी बड़ा ऊँचा स्थान है। गीति-काव्य में तो विशेष का यही अंश प्रधान रहता है परन्तु इसमें सफलता विरलों को ही प्राप्त होती है। मनोवेगों की तीव्रता और उनकी सफल अभिव्यंजना पर सब कुछ निर्भर रहता है। सूर

जैसे कवियों को इसी में आशातीत सफलता मिली। जयदेव अपने गीतिकाव्य के कारण ही मनोनीत हुए। संभव है इस सम्बन्ध में कहा जाय कि इन कवियों की सफलता का कारण व्यक्तिगत-मनोवेगों की तीव्रता तो थी परन्तु उन मनोवेगों में जो एक प्रकार की 'जातीय' 'समष्टि भावना' भरी हुई है, वास्तव में उसी के कारण ये कवि इतने लोकप्रिय हुए। कुछ अंशों में यह तर्क उचित है परन्तु भूलना न चाहिए कि व्यक्तिगत मनोवेगों को लोक-गत मनोवेग बना देना भी तो व्यक्ति की कुशलता का चिह्न है।

कल्पना, बुद्धि और मनोवेग—इन तीनों तत्त्वों के आधार पर चलने वाला साहित्य सृजनात्मक होता है और कलात्मक भी। शब्द, शब्द-योजना, वाक्य और वाक्य-विन्यास आदि भाषा के अंग एवं गुण, वृत्ति तथा अलंकार आदि अवयव साहित्य के कलापक्ष हैं। इनके उचित उपयोग से ही अभिव्यंजना में सौंदर्य आता है और कला सदैव सौंदर्य-प्रधान है।

जिस प्रकार 'कला' संगीत, चित्र आदि अनेक रूपों में व्यक्त होती है उसी प्रकार साहित्य के भी अनेक रूप हैं। इनमें से दो भेद तो साधारण हैं—गद्य और पद्य। उपन्यास, कहानी, निबन्ध, आलोचना, जीवन-चरित्र आदि गद्य-साहित्य हैं और कविता एवं उसके विभिन्न रूप पद्य के अन्तर्गत हैं।

अगले अध्यायों में साहित्य के इन रूपों पर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया गया है।

[२]

साहित्य का सन्देश : व्यक्तित्व की अभिव्यंजना

'काव्य-प्रयोजन' का वर्णन करते हुए आचार्य मम्मट ने लिखा है कि "यश की प्राप्ति, सम्पत्तिलाभ, सामाजिक व्यवहार की शिक्षा, रोगादि विपत्तियों का विनाश, तुरन्त ही उच्च कोटि के आनन्द का अनुभव और कान्ता के समान मनभावन उपदेश देने के लिए काव्य-ग्रन्थ उपादेय (प्रयोजनीय) है।"[1]

काव्य, चतुर कवि की विचित्र रचना होती है। ऐसा काव्य प्यारी स्त्री की भाँति अपनी उक्ति में अनुराग उत्पन्न कराकर लोगों को अपनी ओर खींचता है। परन्तु ऐसे काव्य की उत्पत्ति के हेतु तीन होते हैं—

१. कविता रचने की शक्ति (ईश्वरप्रदत्त प्रतिभा)।
२. लोक और शास्त्रादि के अवलोकन की चतुराई।
३. काव्य जानने वालों द्वारा शिक्षा पाकर उसका अभ्यास।

आचार्य विश्वनाथ ने भी माना है कि "अल्पबुद्धि वालों को भी सुख से—बिना किसी विशेष परिश्रम के—चतुर्वर्ग (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) फल की प्राप्ति काव्य के ही द्वारा हो सकती है।"[2]

---

१. काव्य-प्रकाश : १-२.

२. साहित्य-दर्पण : १-२.

उपरोक्त काव्य के प्रयोजनों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि काव्य (साहित्य) केवल मनोरंजन की वस्तु नहीं। वह जीवन का निर्माण करने में सहायक एक महत्त्वपूर्ण अंग है। यदि साहित्य की व्यापकता इतनी अधिक न होती तो आचार्य मम्मट ने साहित्य-लेखक के लिए तीनों हेतुओं (कारणों) का विधान न किया होता। उनके बताए हुए अन्तिम दो हेतु तो अपनी उपयोगिता का प्रदर्शन स्वयं कर रहे हैं। जीवन को बनाने वाले साहित्य के लिए कितना लोक-अनुभव होना चाहिए, कितना विविध शास्त्र-ज्ञान होना चाहिए—इस पक्ष पर ध्यान देना आवश्यक है।

मम्मट का तात्पर्य 'लोक' शब्द से उन सभी व्यापारों से है जो चराचर पदार्थों से सम्बन्ध रखते हैं। इसी प्रकार शास्त्रों से अभिप्राय उन ग्रन्थों से है जो छन्द, व्याकरण, अभिधान, कोष, कला, चतुर्वर्ग आदि के लक्षण बताने वाले हैं और जिनकी रचना महाकवियों द्वारा होती है। 'आदि' शब्द के प्रयोग से आचार्य का अभिप्राय इतिहास इत्यादि ग्रन्थों से है। वास्तव में इसी प्रकार के ग्रन्थों का भली-भाँति अध्ययन करने से काव्य-विषयक व्युत्पत्ति प्राप्त होती है। इस प्रसंग में मम्मट ने साहित्य-लेखक के निजी ज्ञान की व्यापकता, उसके हृदय और मस्तिष्क की विशालता तथा उसके अनुभव की अपरिमितता की ओर संकेत किया है। ये दोनों वस्तुएँ लेखक की आत्म-प्रसारिता और व्यक्तित्व से सीधा सम्बन्ध रखती हैं।

आत्म-प्रसार और व्यक्तित्व की अभिव्यंजना है क्या? अधिक से अधिक वस्तुओं से सम्बन्ध स्थापित करना और उनके अन्दर अथवा उनके द्वारा उत्पन्न होने वाले मनोवेगों के साथ तादात्म्य का अनुभव करना। जिस वस्तु को देखकर अथवा जिसके विषय में कुछ थोड़ा-सा अनुभव कर हम एक क्षण पहिले उसके प्रति उदासीनता अथवा रंचक आकर्षण का भाव रखते थे उसी के प्रति और अधिक तीव्रता तथा गहराई से सोचने, समझने के लिए ही तो हमें साहित्य बाध्य करता है। न जाने कितने सुन्दर कोमल फूल, बिना बोले, अपने जीवन का बलिदान कर देते हैं परन्तु साहित्यकार उनके इस जीवन की झाँकी हमारे सामने रखकर हमें उनके प्रति सहानुभूति से परिपूर्ण कर देता है। हमारा व्यक्तित्व—जो केवल 'हमीं' तक सीमित था—अपने क्षेत्र का विस्तार करता हुआ अन्य वस्तु को भी अपनी परिधि में ले लेता है। जीवन के इसी क्रम का जितना अधिक विस्तार होता है उसी मात्रा में—अनुभव, ज्ञान और तादात्म्य के उसी विकास में—हमारी आत्मा का प्रसार और व्यक्तित्व की अभिव्यंजना होती है।

'जीवन' भी तो 'वातावरण' के सम्पर्क की अभिन्न चेतना है। उस विराट् की सृष्टि में जो कुछ हमारे चारों ओर दिखाई देता है, दर्शन की भाषा में, वह सब उसी का अंश है और हम भी उसी के अंश हैं। अतएव जिस प्रकार 'अद्वैत की भावना' ब्रह्म-ज्ञान की सीमा है उसी प्रकार उसकी विराट् सृष्टि से अधिक से

अधिक रागात्मक सम्बन्ध 'आत्म-विस्तार' है।

'आत्म-विस्तार' सब में है। जड़वृक्ष एक ही स्थान पर रहता हुआ अपनी जड़ों द्वारा अनेक पड़ोसी वृक्षों, भूमि आदि से अपना सम्पर्क बढ़ाता है—वह भूमि, वायु और सूर्य से अनेक तत्त्वों को ग्रहण करता है। यह सम्पर्क ही तो उसके जीवित रहने का प्रधान कारण है। यह सीमित सम्पर्क हटा, और वृक्ष का सर्वनाश हुआ। उसकी अपेक्षा पक्षी अधिक स्वतंत्र हैं। उसके वातावरण का विस्तार अधिक है। वह एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाता है, हवा के साथ अठखेलियाँ करता है और अपनी प्रतिदिन की उड़ान में न जाने कितनी नई वस्तुओं से अपना सम्बन्ध स्थापित करता है। उसे पता होता है कि नदी के जिस किनारे पर खड़े हुए वृक्ष की डाल में उसका घोंसला है, उसके दूसरे किनारे क्या है? वह जानता है कि नदी के उस पार दिखाई देने वाले उत्तुग पहाड़ की चोटियों पर कैसे सुन्दर और रमणीय झरनों की क्रीड़ा-भूमि है। वह दूसरे पक्षी के आनन्द-गान को समझता है और स्वयं भी उसी की लय से लय मिलाकर गा उठता है। वह समझता है कि बहेलिए के आगमन का क्या परिणाम होता है और अपने साथियों की विचित्र बोली को सुनकर सतर्क हो जाता है। और मनुष्य? वह तो ईश्वरीय सृष्टि की अनुपम देन है—उसका सम्पर्क, उसका सम्बन्ध, उसकी भावनाएँ सभी अपरिमित हैं। उसके अनुभव, उसके आनन्द, उसके आश्चर्य—किसी की कोई सीमा नहीं। समस्त भूमंडल

उसकी लीलाभूमि है, समस्त ब्रह्माण्ड उसके लिए खुला पड़ा है। वह स्वतंत्र है, स्वच्छन्द है। इसीलिए 'मनुष्य' क्या नहीं है? वह शक्तिशाली है, धर्मभीरु है, कर्मवीर है और उदात्त है। वह केवल अपने ही नेत्रों से नहीं देखता, वह केवल अपने ही अनुभवों तक मर्यादित नहीं, वह केवल अपने ही मस्तिष्क से नहीं सोचता—उसे दूसरों का संचित ज्ञान, अनुभव भी उपलब्ध है। अपने पूर्वजों और समकालीनों की अनुभूतियों से वह लाभ उठा सकता है और परवर्तियों का नेता बन सकता है। परन्तु जीवन के ये सब अंग उसे मिलते हैं लिपिबद्ध शब्दों द्वारा—उस साहित्य द्वारा जिसका निर्माण दूसरों के हाथों हुआ है। जिन शब्दों में केवल मनोरंजन की बात नहीं वरन् जिनमें जीवन की विविधताओं के अनुभव के रूपों में लेखक की उदार आत्मा की संवेदनापूर्ण प्रतिध्वनियाँ हैं, वे शब्दों–लेखक के अन्तःकरण से प्रतिबिम्बित होने वाले उन अनुभवों–के प्रतीक हैं जो बाह्य परिस्थितियों और अन्तर्द्वन्द्व का परिणाम होते हैं।

संवेदनाएँ मूल रूप में तीन हैं—दुख के कारण उद्भूत विषाद, आनन्द से उत्पन्न हास और रुचि-अनुकूल परिस्थिति से प्रादुर्भूत प्रसन्नता। शेष सभी संवेदनाएँ–जो नव-रस के स्थायी भावों के नाम से साहित्य में प्रख्यात हैं–इन्हीं के रूपान्तर हैं। सारा साहित्य–सब भाषाओं का साहित्य–इन भावनाओं से ओत-प्रोत है। जीवन-सम्बन्धी ये अनुभूतियाँ व्यक्ति के व्यक्तित्व को अभिव्यंजित करती हैं और उनका प्रदर्शन

होता है साहित्य में। संक्षेप में साहित्य में व्यक्तित्व की अ
व्यंजना से यही अभिप्राय होता है। जो साहित्यकार के
दूसरों की अनुभूतियों को ही अपना कर नहीं चलता
जिसमें अपने अनुभवों का भी पर्याप्त प्रस्फुटन होता है,
स्थायी साहित्य में प्रतिष्ठित होता है क्योंकि उसकी अनुभूि
वास्तविकता और सत्य से अनुप्राणित रहती हैं, वे केवल दू
की आत्मा की 'प्रतिध्वनियाँ' नहीं होतीं। अतएव 'साहित्य
संदेश' जीवन की उदात्तता का सन्देश है। साहित्य की उत्कृ
की चरम सीमा यह है कि उसके पढ़ने पर 'ब्रह्मसहोदर-आन
की प्राप्ति हो।

यदि साहित्य का लक्ष्य जीवन की व्याख्या है[1] तो
कथन अनुपयुक्त और असम्पूर्ण है क्योंकि जीवन केवल व्याख
नहीं, वह निर्माण (निर्माणोन्मुखी) भी तो है। यदि साहित्य केव
व्याख्या करता है और निर्माण नहीं करता तो उसका ध्येय एक
है। उसे सर्वांगी होना चाहिए। यदि साहित्य 'कला' है तो
केवल जीवन का विवेचन नहीं हो सकता क्योंकि ऐसा करने
उसकी परिभाषा में उपदेशक की कटुता और अहम्मन्यता
समावेश हो जाता है। 'कलात्मक' होने के कारण साहित्य
लक्ष्य भी कलापूर्ण ही होना चाहिए।

साहित्य जीवन-निर्माण का साधन है परन्तु उपदेशक
कर नहीं, वरन् अपनी सौंदर्य-विधायिनी, प्रेरणात्मक शक्ति

१. मैथ्यू आर्नल्ड 'Literature is a criticism of Life.

कारण। उसका महान् प्रयोजन है जीवन को उस असीम आनन्द से भरपूर कर देना जो अनेकता को एकता में परिवर्तित होते देखकर होता है, जो बीहड़ वनों के ऊँचे-नीचे, पीन-क्षीण वृक्षों तथा अनेक श्रोतस्विनी सरिता के तीव्र और मन्थर प्रवाह के 'सम' में प्राप्त होता है और साहित्य का लक्ष्य है जीवन के उस रूप की सृष्टि जिसमें—प्रेम और शक्ति के समान—आत्मा को स्पन्दित कर देने वाले विचार तथा गतिशीलता का उसी प्रकार सामंजस्य हो जिस प्रकार शील और सौंदर्य का।

आर्यासप्तशती में साहित्य-प्रदत्त आनन्द का सुन्दर वर्णन है—

"सत्कवि-रसना-सूर्पीनिस्तुषतर-शब्द-शालि-पाकेन।
तृप्तो दयिताधरमपि नाद्रियते का सुधा-दासी॥"

[सुकवि की रसना रूपी सूप से किए गए तुषरहित शब्द शालि (चावल) पाक से जो तृप्त है, वह अपनी प्रिया के अधर-रस का भी निरादर करता है, तब बेचारी सुधा-दासी तो वस्तु ही क्या है ?]

व्यक्तित्व की अभिव्यंजना के सम्बन्ध में प्रायः एक शंका उठा करती है। क्या 'व्यक्तित्व' से अभिप्राय व्यष्टि रूप में स्वयं लेखक से है अथवा समष्टि रूप में उसके युग की आत्मा की अभिव्यंजना से ? प्रश्न बड़ा स्वाभाविक है क्योंकि साहित्य में दोनों रूप उपलब्ध होते हैं। सूर के पदों में एक ओर तो उनका अपने इष्ट के प्रति निजी भाव और दूसरी ओर भक्ति-

काल के युग की आत्मा का प्रदर्शन दोनों ही प्राप्त होते हैं। कहा जा सकता है कि 'सूर कृष्ण के बाल-रूप के उपासक थे और उनका गीति-काव्य उनकी अन्तःकरण की भावनाओं से ओत-प्रोत है'। यह भी कहा जा सकता है कि 'सूर ने अपने पदों की रचना उस युग में की है जब कृष्ण-भक्ति की प्रभाव-शालिनी धारा उत्तर भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक प्रवाहित हो रही थी और सूर का प्रत्येक पद उसी विचारधारा का प्रतिबिम्ब है'। दोनों कथन सत्य हैं—प्रथम व्यष्टि रूप में और दूसरा समष्टि रूप में।

इसी प्रकार की उक्ति रीति-कालीन साहित्य और उसके लेखकों की अभिरुचि तथा वर्तमान आधुनिक साहित्य के विषय में भी हो सकती है। परन्तु कभी-कभी साहित्य का ऐसा रूप भी प्राप्त होता है जब लेखक का अपना व्यक्तित्व एक प्रकार से मिट जाता है। प्रायः यही कहा जाता है कि 'रामायण और महाभारत के युग में बड़ा अन्तर है। भ्रातृभाव का आदर्श देखना हो तो रामायण में देखो। एक भाई राज्य-प्राप्ति पर भी उसका उपयोग नहीं करता क्योंकि छोटा होने के कारण वह समझता है कि राज्याधिकारी बड़ा ही भाई है। सब कुछ अपने पक्ष में होने पर भी वह विशाल साम्राज्य और उससे प्राप्त होने वाली सत्ता का त्याग कर देता है। महाभारत के युग में एक भाई दूसरे भाई को जीवन व्यतीत करने के लिए सुई की नोक के बराबर भूमि तक देने के लिए तैयार नहीं होता।' दोनों

आदर्शों का भेद युग की आदर्शवादिता–आत्मा–का परिणाम है। वाल्मीकि और व्यास इस अन्तर के लिए उत्तरदायी नहीं हैं। इसी प्रकार मैथिलीशरण के साकेत में उर्मिला के हृदय की वेदना उसके गीतों में व्यक्त होती है परन्तु युगकालीन स्त्रीत्व की स्वतंत्रता की भावना और आत्म-शक्ति के परिचय का भाव, जो वास्तव में वीसवीं शताब्दी की अनुपम देन है, वह यशोधरा के व्यक्तित्व में प्रगट होता है। अतएव साकेत कवि के एक प्रकार के व्यक्तित्व का द्योतक है और यशोधरा समष्टि रूप में युग की आत्मा को अभिव्यंजित करने वाली है।

भारत के ही नहीं सभी देशों के साहित्य के सम्बन्ध में यह कथन सत्य है। वस्तुतः व्यक्तित्व इतनी लचीली और विशाल वस्तु है कि उसका कोई साधारणतया माप नहीं होता। किसी कृति में यदि हमारी आत्मा (पाठक की आत्मा) को ऊँचा उठाने वाले ऐसे भावों की योजना और अभिव्यंजना मिलती है जो बहुत कुछ सीमित हैं तो उसे हम व्यक्तित्व की अभिव्यंजना का व्यष्टि रूप कह सकते हैं और यदि किसी रचना का भाव-क्षेत्र व्यक्ति से हटकर किसी एक युग अथवा समस्त मानवता की भाव-व्यंजना पर जा टिकता है तो उसे व्यक्तित्व की अभि-व्यंजना का समष्टि रूप कह सकते हैं। दोनों प्रकार की रचनाओं की सृष्टि मानव-शक्ति द्वारा ही होती है। ये रचनाएँ सब प्रकार से मानव-विचारधारा और मानव-अनुभूति की ही प्रतीक हैं चाहे इनका आधार-स्तम्भ 'एक व्यक्ति' हो अथवा 'वर्ग या

जाति' हो। हाँ, यह निर्विवाद है कि साहित्य के विकास में व्यक्ति का आत्म-प्रसार मानवता के आत्म प्रसार में विलीन होता जाता है। इसी गुण के कारण साहित्य 'स्थायी साहित्य' अथवा 'सर्वजनीन' एवं 'सर्वकालीन' साहित्य की उपाधि को प्राप्त करता है।

---

[३]

काव्य : मानदण्ड

मानसिक क्षेत्र से काव्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है परन्तु फिर भी वह प्रधानतया भाव-जगत् की वस्तु है अतएव उसकी कोई एक परिभाषा स्थूल शब्दों में होना असंभव है। जिस प्रकार युग के अनुसार जीवन के मूल्यांकन में परिवर्तन होता है उसी प्रकार 'काव्य' की भावना में भी, उसके द्वारा दिए जाने वाले संदेश में भी परिवर्तन होता है। 'काव्य' सम्बन्धी विभिन्न मतों के इतिहास पर दृष्टि डालने से यह बात स्पष्ट हो जाती है।

भारतीय साहित्य शास्त्र के अनुसार 'काव्य' के विषय में छः सम्प्रदाय प्रधान माने गए हैं—रस-सम्प्रदाय, अलंकार-सम्प्रदाय, रीति-सम्प्रदाय, वक्रोक्ति-सम्प्रदाय, ध्वनि-सम्प्रदाय और औचित्य-सम्प्रदाय। यद्यपि प्रत्येक सम्प्रदाय, अन्त में, आकर प्रायः एक ही आदर्श पर केन्द्रित हो जाता है परन्तु उनका दृष्टिकोण अपने विषय के प्रतिपादन में भिन्न अवश्य है। इन सम्प्रदायों का साधारण ज्ञान 'काव्य' के स्वरूप के समझने के लिए आवश्यक है।

सब से प्राचीन मत 'रस-सम्प्रदाय' का माना जाता है। इसके प्रणेता नाट्य-शास्त्र के उद्भट-विद्वान् भरत मुनि थे। अपने ग्रन्थ में भरत ने रस का विवेचन केवल रूपक (वर्तमान नाटक)

को लेकर ही किया है। रूपक के तत्त्वों का विवेचन करते समय उन्होंने 'रस' को भी एक प्रधान तत्त्व माना है। आगे चलकर भरत का मत अन्य आचार्यों में भी मान्य हुआ और वह रस-सम्प्रदाय' के नाम से साहित्य शास्त्र में प्रचलित हो गया।

साधारणतया रस-सम्प्रदाय का मूलभूत सूत्र है—

"विभावानुभाव-व्यभिचारिसंयोगात् रसनिष्पत्तिः"।

नाट्य-शास्त्र, अध्याय ६

(विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है।)

भरत ने इस सूत्र का जो भाष्य लिखा है वह तो अपेक्षाकृत बड़ा सुगम है परन्तु भरत के टीकाकारों ने जो व्याख्याएँ इसकी की हैं उनमें चार मत अधिक प्रचलित और ध्यान देने योग्य हैं—भट्ट लोल्लट का आरोपवाद; शंकुक का अनुमानवाद; भट्ट नायक का युक्तिवाद और अभिनव गुप्त का अभि-व्यक्तिवाद।

भरत का मत

"विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है"—भरत का यह सिद्धान्त ऊपर दिया जा चुका है। उनका कहना है कि जिस प्रकार नाना भाँति के व्यंजनों का स्वाद जिह्वा के द्वारा प्राप्त किया जाता है उसी प्रकार इसका आस्वाद नाटक में 'रति' आदि-स्थायी भावों-के रस रूप में अभिव्यक्त होने पर मन से किया जाता है।

परन्तु भरत ने स्थायी भाव की कोई व्याख्या नहीं की। अतएव उनके मत को समझने के लिए अन्य टीकाकारों अथवा व्याख्याकारों की आवश्यकता पड़ती है। इस प्रसंग में आचार्य मम्मट ने कहा है—

"कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।
इत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः ॥२७॥
विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः ॥२८॥

काव्य-प्रकाश, चतुर्थ उल्लास

[लोक-व्यवहार में जिन्हें कारण, कार्य और सहकारी कारण कहा जाता है वे ही सब नाटक और काव्य में भी रति आदि स्थायी भाव के भी होते हैं परन्तु उन्हें कारण, कार्य और सहकारी कारण न कहकर क्रमशः विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव कहते हैं। इन विभाव आदि द्वारा जो स्थायी भाव प्रतिपादित किया जाता है उसी (स्थायी भाव) का नाम रस है।]

'स्थायी भाव' से अभिप्राय उस मनोविकार या चित्त-वृत्ति से है जो चिरकाल तक चित्त में अविच्छिन्न प्रवाह के साथ स्थिर रहती है और जिसको विरुद्ध या अविरुद्ध भाव छिपा या दबा नहीं सकते तथा जो विभावादि से सम्बन्ध होने पर रस रूप में व्यक्त होता है। आनन्द का यही मूलभूत भाव स्थायी भाव की संज्ञा को प्राप्त होता है।

जिस प्रकार एक ही सूत्र किसी माला के सब दोनों में

समाया रहता है उसी प्रकार स्थायी भाव अन्य भावों में प्रतिष्ठित रहता है। अन्य भावों एवं रस के अवयवों से यही गुण 'स्थायी-भाव' की स्वतंत्र सत्ता को घोषित करता है।

रति आदि स्थायी भावों के जो कारण होते हैं अर्थात् जिनके द्वारा सामाजिक जनों की आत्मा में स्थित रहने वाले स्थायी भाव (मनोविकार) उत्तेजना को प्राप्त होते हैं, उन्हें 'विभाव' कहते हैं। इन 'विभावों' के द्वारा स्थायी और व्यभिचारी भावों के आश्रित वाणी और अंगाभिनय आदि अनेक 'अर्थों' का विभावन (विशेष ज्ञान) होता है।[1]

विभाव की व्याख्या करते हुए स्वयं भरत मुनि ने कहा है—

"विभाव इति कस्मादुच्यते। विभावो विज्ञानार्थः।
विभावः कारणं निमित्तं हेतुरिति पर्यायाः।"[2]

[···।······। विभाव, कारण, निमित्त और हेतु पर्यायवाची शब्द हैं।]

विभाव रस के उत्पादक (कारण) होते हैं और भावों को आस्वादन के योग्य बनाते हैं। ये दो प्रकार के होते हैं।

१. आलम्बन-विभाव—जिसका आलम्बन करके स्थायी भाव (रति, शोक आदि मनोविकार) उत्पन्न होते हैं। शृङ्गार-रस में रति स्थायी भाव के नायक-नायिका आलम्बन होते हैं। प्रत्येक रस के आलम्बन-विभाव प्रायः भिन्न-भिन्न होते हैं।

२. उद्दीपन-विभाव—जो स्थायी भावों को और अधिक

१. नाट्य-शास्त्र, ७-१, २। २. नाट्य-शास्त्र, ७—तीसरे श्लोक के पश्चात.

बढ़ाने अथवा उद्दीपित करने में समर्थ होते हैं। सुन्दर वेश-भूषा रमणीय केलि-कुंज, कोकिला का मधुर आलाप, शीतल मन्द समीर, वर्षा की फुहारें सभी रति को बढ़ाने वाले होने के कारण शृङ्गार-रस के उद्दीपन विभाव हैं।

विभावों के पश्चात् (अनु) जो भाव उत्पन्न होते हैं उन्हें ही 'अनुभाव' कहते हैं क्योंकि ये उत्पन्न हुए स्थायी भाव का अनुभव कराते हैं। "अनुभावो भावबोधकः"।

चिन्ता आदि 'चित्त की वृत्तियों' को 'व्यभिचारी' या 'संचारी भाव' कहा जाता है। ये स्थायी भाव के सहकारी कारण हैं। सभी रसों में यथासंभव संचार करते हैं, इसी से इनकी संज्ञा 'व्यभिचारी भाव' है—

"विविधाभिमुख्येन रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिणः[1]।"
स्थायी भाव और व्यभिचारी भाव में यही भेद है कि स्थायी भाव, जैसा नाम प्रतीत होता है, सदैव बना रहता है परन्तु व्यभिचारी भाव स्थायी भाव को उचित सहायता देकर—अपना प्रयोजन समाप्त करने पर—लुप्त हो जाता है।

संक्षेप में रस-सम्प्रदाय के अन्तर्गत 'रस-विवेचन' में रस के अंगों का यही साधारण ज्ञान है। यहाँ इन अंगों के अन्य सूक्ष्म वर्णन में जाने की आवश्यकता नहीं।

रस-विषयक भरत मुनि के इसी मत का विकास आनन्द-

१. नाट्य-शास्त्र, ७—२७ वें श्लोक के पश्चात्।

वर्धन तथा अभिनवगुप्त एवं पंडितराज जगन्नाथ तथा विश्वनाथ द्वारा किया गया है।

ये सब आचार्य किसी न किसी रूप में 'रस को ही काव्य की आत्मा' स्वीकार करते हैं और इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि इसके बिना काव्य निर्जीव है। अतएव रस-सम्प्रदाय की दृष्टि से यदि किसी काव्य की आलोचना की जाय तो उसमें रस-परिपाक देखना पड़ेगा। जिस काव्य में रसपरिपाक नहीं और जो काव्य रस द्वारा प्राप्त होने वाले आनन्द का प्रसार करने वाली नहीं वह या तो 'उत्कृष्ट काव्य' नहीं अथवा 'दोष-पूर्ण काव्य' है।

रस-सिद्धान्त को काव्य-साहित्य की परीक्षा का एक आवश्यक अंग मानने से पूर्व इसके सम्बन्ध में की गई विवेचना पर भी ध्यान दे लेना आवश्यक है। प्रश्न यह है कि रस की उत्पत्ति किसके हृदय में होती है ? और कैसे होती है ? वास्तव में रस-एक आनन्द-अवस्था है। इस अवस्था-विशेष को प्राप्त करने से ही हमें रस की अनुभूति होती है। अतएव यदि मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के आधार पर इसका अध्ययन किया जाय तो हमें मानना होगा कि इस दशा की प्राप्ति के लिए परस्पर—आश्रय और आलम्बन का आकर्षण अवश्यंभावी है और उसे स्थायित्व प्रदान करने के लिए दोनों की एकता अथवा तादात्म्य अनिवार्य है। दूसरी भाषा में कहा जा सकता है कि 'अंगी' (रस) और 'अंग' (विभाव आदि) की अद्वैतता की अनुभूति ही 'रस' अवस्था है।

इस आनन्द-अवस्था की उत्पत्ति आश्रय में दो प्रकार से हो सकती है—

१. आलम्बन से प्रत्यक्ष सम्पर्क, अतएव स्वाभाविक रूप से उसकी ओर आकर्षण और अन्त में तादात्म्य। यह अवस्था कवि आदि साहित्य-सृजन में ही संभव है।

२. आलम्बन से अप्रत्यक्ष सम्पर्क परन्तु प्रत्यक्ष प्रतीति, तत्पश्चात् आकर्षण और अन्त में तादात्म्य सम्बन्ध।

भट्ट लोल्लट ने रस की व्याख्या दूसरे प्रकार के आधार पर की है। उनका कहना है कि—

"विभावों (ललना आदि आलम्बन और उद्यान आदि उद्दीपन कारणों) से जो स्थायी रति आदि भाव उत्पन्न किया जाता है; अनुभावों (कटाक्ष, भुजाक्षेप आदि कार्यों) से जो प्रतीति के योग्य किया जाता है तथा व्यभिचारी निर्वेद आदि) भावों की सहायता से जो पुष्ट किया जाता है और वास्तविक सम्बन्ध से 'नाटक में' राम, सीता आदि के रूप धारण करने वाले पुरुष (नट) द्वारा उन्हीं के वेष-भूषा, वार्तालाप तथा चेष्टा आदि के दिखलाने से व्यंजना-व्यापार द्वारा प्रकट किया जाता है, उसी स्थायीभाव को रस कहते हैं"।[1]

लोल्लट का अभिप्राय यह है कि जैसे सर्प के न होने पर भी कोई व्यक्ति रज्जु को सर्प रूप में देखे तो उसे रज्जु में सर्प की प्रतीति होने के कारण भय उत्पन्न होता है, उसी प्रकार सीता-

१. काव्यप्रकाश ४. २८ श्लोक के पश्चात।

सम्बन्धी, अनुरागरूपा श्रीरामचन्द्र जी की रति नट में न होते हुए भी--नट के अभिनय की चतुरता के कारण--उसमें विद्यमान-सी प्रतीत होती हुई, सहृदयों के चित्त को विचित्र आनन्द देने वाली जो वृत्ति (व्यापार) होती है उसी को रस कहते हैं। ऐसी रस-अवस्था के अनुभव में सामाजिकों (दर्शकों और पाठकों) द्वारा नट में, वास्तविक पात्र से भिन्न होते हुए भी, मूल पात्र (जिसमें रस का उदय हुआ था) का आरोप कर दिया जाता है और इस प्रकार उस पात्र (आलम्बन) के साथ सामाजिक (आश्रय) सम्पर्क एवं तादात्म्य का अनुभव कर रस-अवस्था को प्राप्त होता है।

अतएव स्पष्ट है कि लोल्लट का 'आरोपवाद' अप्रत्यक्ष रूप में प्रत्यक्ष की प्रतीति कराने वाले आधार पर अवलम्बित है। परन्तु मूल रूप में वह यही मानते हैं कि रस की अनुभूति आश्रय और आलम्बन दोनों में समान रूप से होती है। भेद इतना ही है कि अभिनय के समय मूल पात्र (आलम्बन) सामाजिक (आश्रय) के सामने स्वयं उपस्थित नहीं होता। उसकी उपस्थिति नहीं होती। उसकी उपस्थिति की प्रतीति एवं उसके हृदय-जन्य आनन्दानुभूति की भी प्रतीति नट, कुशलता-पूर्वक, सामाजिक को करा देता है। सामाजिक नट को देखकर भी यही समझता है कि वह वास्तव में रामादि अथवा सीता आदि को ही देख रहा है।

श्री शंकुक भट्ट लोल्लट के मत को भ्रममूलक मानते हैं। उनका

कहना है इसकी उत्पत्ति का कारण नट में मूल पात्र और उसकी भावनाओं का 'आरोपण' नहीं है वरन् सामाजिकों द्वारा नट में मूल का 'अनुमान' है। उनका तर्क इस प्रकार है—

१. जहाँ कारण होगा वहीं कार्य संभव है; जहाँ धुआँ है वहीं अग्नि की संभावना है। अतएव जिस व्यक्ति (सामाजिक) में रति आदि स्थायी भाव होगा उसी को उद्भूत रति का रसास्वाद हो सकता है अन्य को नहीं। नट मूल पात्र से भिन्न है, और सामाजिक भी मूल पात्र से भिन्न है तो फिर सामाजिकों को कैसे रसास्वाद हो सकता है ?

२. यदि यह मान लिया जाय कि आरोप ज्ञान मात्र से ही रसानुभव होता है तो यह भी ठीक नहीं है। यदि ऐसा होता तो शृंगार आदि रसों के ज्ञान मात्र से—नाम सुनने और अर्थ समझ लेने से ही—रसानुभव होना चाहिए। सुख के नाम मात्र से सुख हो जाना चाहिए परन्तु ऐसा नहीं। अतएव नट में मूल पात्र की प्रतीति का कारण चारों प्रकार के ज्ञान—सम्यक्, मिथ्या, संशय, सादृश्य—में से कोई भी ज्ञान नहीं है। इस प्रतीति का कारण इन ज्ञानों से विलक्षण एक अन्य ज्ञान है जिसे 'चित्र-तुरंग' ज्ञान कहते हैं। चित्र में घोड़ा देखकर यह ज्ञान होना कि 'यह घोड़ा है' 'चित्र-तुरंग' ज्ञान है और यह सत्य 'आरोपण' के कारण नहीं 'अनुमान' के कारण है। इसी प्रकार सामाजिक नट में भी मूलपात्र का 'अनुमान' कर लेता है और उसमें रति आदि स्थायी भाव का भी अनुमान कर लिया जाता है।

होना स्वयं ही एक पाप वृत्ति है। जिसे हम प्रेमपात्र बनाना चाहें उसमें भी तो हमारे प्रेमपात्र बनने की क्षमता होना आवश्यक है। केवल स्त्री होना तो पर्याप्त नहीं; स्त्री तो बहन भी होती है और माँ भी अतः सीता आदि में सामाजिकों के आलम्बन कदापि नहीं हो सकते !

भट्ट नायक इस प्रकार शंकुक के मत का प्रतिवाद करते हुए कहते हैं कि भरत के सूत्र में 'संयोग' का अर्थ 'भोज्य-भोजक' भाव सम्बन्ध है और 'निष्पत्ति' का अर्थ 'भुक्ति' या 'भोग' है। अर्थात् काव्य की क्रियाएँ ही रस-उद्‌बोध का कारण हैं। काव्य शब्दात्मक है। शब्द के तीन व्यापार हैं—

(१) अभिधा—जिसके द्वारा काव्य का अर्थ समझा जावे।

(२) भावना—जिसके द्वारा 'साधारणीकरण' हो। इसका फल यह होता है कि भावना सब पदार्थों को साधारण बना देती है। अतः उनमें किसी व्यक्ति-विशेष या देश-काल आदि का सम्बन्ध प्रतीत न होकर रसास्वाद का प्रतिकूल आवरण हट जाता है।

(३ भोग—इस व्यापार से सामाजिकों को रसास्वाद होने लगता है। 'भोग' का अर्थ है—"सत्त्वोद्रेक-प्रकाशानन्द-संविद्विश्रान्तिः" अर्थात् सत्त्व-गुण के उद्रेक से प्रादुर्भूत प्रकाश रूप आनन्द का ज्ञान—आनन्द का अनुभव। यह आनन्दानुभव वेद्यान्तर सम्पर्क-शून्य है अर्थात् अन्य-सम्बन्धी ज्ञान से रहित होता है। अतएव यह लौकिक सुखानुभव से विलक्षण है, बस

इसी भोग-व्यापार द्वारा इसका आस्वाद होता है।

भट्ट नायक का अभिप्राय यह है कि काव्य और नाटकों को सुनने एवं देखने से तीन कार्य होते हैं—पहले उसका अर्थ समझा जाता है, फिर उसकी भावना अर्थात् चिंतन किया जाता है जिसके प्रभाव से सामाजिक यह नहीं समझ पाते कि काव्य-नाटकों में जो सुना और देखा जाता है वह किसी दूसरे व्यक्ति से सम्बन्ध रखता है अथवा हमारा ही है और इसके कारण लोल्लट के 'आरोपण' अथवा शंकुक के 'अनुमान' की आवश्यकता नहीं पड़ती। इसके पश्चात् सत्त्व-गुण के प्राधान्य (उद्रेक) से आत्मचैतन्य से प्रकाशित साधारणीकृत (साधारण रूप में उपस्थित) रति आदि स्थायी भावों का सामाजिक जन आनन्दानुभव करने लगते हैं। वही रस है।

रसजन्य यह आनन्दानुभव ब्रह्मानन्द का समीपवर्ती या 'ब्रह्मानन्द-सहोदर' कहा जाता है। भेद केवल यही है कि रसास्वाद 'रति' आदि विषयों से मिला रहता है और ब्रह्मानन्द विषयों से सर्वथा रहित रहता है।

अभिनव गुप्त का मत इन तीनों आचार्यों से भिन्न है। उनका कहना है कि 'रति' आदि स्थायी भाव सामाजिकों के अन्तःकरण में वासना (संस्कार) रूप में सूक्ष्मतया स्थित रहते हैं परन्तु वे अव्यक्त रहते हैं, जिस प्रकार मिट्टी के पात्र में गन्ध स्थित रहती है परन्तु प्रतीत नहीं होती। और जल का संयोग होने पर जिस प्रकार पात्र की सुगन्ध व्यक्त हो जाती है

उसी प्रकार सामाजिक के अन्तःकरण में स्थित रति आदि स्थायी मनोविकार काव्य के पठन अथवा नाटक के दर्शन से 'व्यंजना' के अलौकिक विभावन-व्यापार द्वारा जागृत हो जाते हैं और स्थायी भाव के आनन्द का अनुभव होने लगता है। यही रस की अभिव्यक्ति या निष्पत्ति है।

व्यंजना वृत्ति के जिस विभावन को अलौकिक व्यापार कहा गया है वह वास्तव में साधारणीकरण ही है। अतएव साधारणीकरण द्वारा ही सामाजिक को अपनी-अपनी आत्मा में ही स्थित रति आदि स्थायी भाव के रसास्वाद का चर्वण (अनुभव) होता है। इस अभिव्यक्ति के कारण ही अभिनव गुप्त का मत 'अभिव्यक्तिवाद' कहलाता है।

भट्टनायक और अभिनव गुप्त के मत में भेद यह है कि भट्टनायक साधारणीकरण को 'भावना' का व्यापार मानते हैं और अभिनव गुप्त उसे 'व्यंजना' का व्यापार बताते हैं। वैसे रस की निष्पत्ति में साधारणीकरण का महत्त्व दोनों स्वीकार करते हैं।

पंडितराज जगन्नाथ के मत में अन्तःकरण की वृत्ति का आनन्दमय हो जाना ही रसानुभव है। चैतन्य (आत्मा के आवरण (अज्ञान) का हट जाना ही रस की चर्वणा या आस्वाद है। अपने मत की पुष्टि में उन्होंने तैत्तिरीय उपनिषद् का उद्धरण दिया है।

"रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दीभवति"

[वह रस रूप है। रस को प्राप्त होकर ही वह (आत्मा) आनन्द रूप बनता है।]

पं० विश्वनाथ कहते हैं—

"अखण्ड, अद्वितीय, स्वयं प्रकाशस्वरूप आनन्दमय और चिन्मय (चमत्कारमय)—यह रस का रूप (लक्षण) है। रस के साक्षात्कार के समय दूसरे वेद्य (विषय) का स्पर्श तक नहीं होता। रसास्वाद के समय विषयान्तर का ज्ञान पास तक नहीं फटकने पाता अतएव यह ब्रह्मास्वाद (समाधि) के समान होता है।.........

अलौकिक चमत्कार है प्राण जिसका उस रस का, कोई ज्ञाता जिसमें पूर्व जन्म के पुण्य से वासनाख्य संस्कार है, वही अपने आकार की भाँति अभिन्न रूप से आस्वादन करता है। जैसे आत्मा से भिन्न होने पर भी शरीरादिकों में 'मैं गोरा हूँ' 'मैं काना हूँ' इत्यादि का अभेद प्रतीत होता है, इसी प्रकार आत्मा से भिन्न होने पर भी आनन्द चमत्कारमय रस आत्मा से अभिन्न प्रतीत होता है। तात्पर्य यह है कि जैसे घटादिकों के ज्ञान के अनन्तर 'मैं घट को जानता हूँ' आदि प्रतीति में ज्ञाता और ज्ञान का भेद प्रतीत होता है उस प्रकार रसास्वाद के पीछे भेद नहीं भासित होता। अथवा जिस प्रकार क्षणिक विज्ञानवादी बौद्ध के मत में घट आदि विज्ञान के रूप ही माने जाते हैं, उसी प्रकार विज्ञान—रूपी आत्मा से अभिन्न

रस की प्रतीति होती है'।"

रस-सम्प्रदाय के उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि काव्य के मानदण्ड में 'रस' का क्या स्थान है और किस प्रकार रस-अवस्था की प्राप्ति संभव हो सकती है एवं होती है। "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" कह कर विश्वनाथ ने इस सम्प्रदाय को अमर कर दिया है।

रस मूल रूप में नौ हैं परन्तु भरत मुनि ने केवल आठ रसों का वर्णन किया है। नाटक का विवेचन करने के कारण वह 'शान्त-रस' को रस-संख्या में नहीं रख पाये हैं।

प्रत्येक रस के चार अवयव हैं—स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव और संचारी या व्यभिचारी भाव। प्रत्येक का संक्षिप्त परिचय पहले दिया जा चुका है। परन्तु इस प्रसंग में एक बड़ा महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित होता है। यदि विभावादि स्थायी भाव को रस-अवस्था में लाने के लिए कारण मात्र हैं तो यह निर्विवाद है कि स्वतंत्र रूप में इनमें से कोई भी रस रूप अथवा रस का उत्पादक नहीं हो सकता। ऐसी अवस्था में तीनों के समूह द्वारा ही रस की निष्पत्ति संभव है। परन्तु देखा जाता है कि कभी काव्य में केवल एक ही विभाव होता है, कभी केवल अनुभाव और कभी एकमात्र व्यभिचारी भाव ही। तो क्या ऐसे वाक्य में रस की स्थिति स्वीकार नहीं की जानी चाहिए? इसका उत्तर यह है कि जहां विभावादि तीनों में एक ही

१ साहित्य-दर्पण, तीसरा परिच्छेद।

स्पष्ट प्रतीत होता है, वहाँ वह अपने व्यंजनीय रस का ऐसा असाधारण सम्बन्धी होता है जो अन्य किसी दूसरे रस की उपस्थिति नहीं होने देता; अतः उसके द्वारा शेष दोनों का आक्षेप हो जाता है, वह एक ही अपने व्यंजनीय रस के अनुकूल शेष दोनों भावों का बोध करा देता है, तब इन तीनों के समूह से ही वहाँ रस व्यक्त होता है न कि केवल एक ही के द्वारा।

यथा—

निसि दिन बरसत नैन हमारे।
सदा रहत पावस ऋतु हम पै जब तें स्याम सिधारे॥
दृग अंजन लागत नहिं कबहूँ उर कपोल भए कारे।
कंचुकि नहिं सूखत सुनु सजनी उर बिच बहत पनारे॥
"सूरदास" प्रभु अंबु बढ्यो है गोकुल लेहु उबारे।
कहँ लौं कहौं स्याम घन सुंदर बिकल होत अति भारे॥

इस पद में विरहिणी गोपिका की दशा का वर्णन है अतएव, 'श्याम' आलम्बन हैं और शेष अनुभाव हैं। संचारी भाव का इसमें अभाव है। परन्तु श्रीकृष्ण विप्रलम्भ शृंगार के असाधारण आलम्बन हैं। उनकी अनुपस्थिति में आँखों से आँसुओं का निरंतर बहते रहना ऐसा अनुभाव है जो शंका, चिंता, मोह, स्मृति आदि की अपेक्षा ही नहीं रखता। वह स्वयं इन सबका आक्षेप हो जाता है और फिर तीनों ही के समूह से आश्रय में स्थित रति स्थायी भाव वियोग-शृंगार रस के रूप में व्यक्त होता है।

रस-प्रतीति के लिए जहाँ इन सब अवयवों का ध्यान रखने की आवश्यकता है वहाँ उपरोक्त बात भी आवश्यक है अन्यथा काव्य के कुछ रूपों में विशेषकर 'गीति-काव्य' में रस-प्रतिष्ठा संभव नहीं हो सकेगी क्योंकि वह तो ऊपर से संचारी भाव प्रधान ही प्रतीत होता है।

काव्य में भावों की प्रबलता और उनके महत्त्व को अंगरेजी लेखकों ने भी स्वीकार किया है। महाकवि वर्ड्सवर्थ की परिभाषा में कविता 'सबल संवेदनाओं का स्वतः प्रवर्तित प्रवाह है,'[1] रस्किन ने इसे 'कल्पना द्वारा उदात्त भावनाओं के हेतु एक उदार क्षेत्र निर्माण करने का व्यंजनात्मक संकेत' माना है।[2] हेज़लिट के लिए कविता 'कल्पना और उत्कट भावनाओं की भाषा है।'[3] महाकवि शैली ने यद्यपि कविता में 'कल्पना' को प्रधानता दी है परन्तु कविता के भावपक्ष के प्रति वह भी स्वाभाविक रूप से आकृष्ट है।

इन पश्चिमीय विद्वानों के काव्य द्वारा दिए जाने वाले संदेशों के सम्बन्ध में चाहे जो मत हों परन्तु भाव और भावनाओं की प्रेरणा से उत्पन्न होने वाले आनन्द (रस) को उन्होंने किसी

1. "Spontaneous over-flow of the most powerful feelings."

2. "The suggestion, by the imagination, of noble grounds for the noble emotions."

3. "The language of imagination and passions."

न किसी रूप में अवश्य स्वीकार किया है। यह सत्य है कि इस सम्बन्ध में उनका विवेचन इतना गहरा, तर्कपूर्ण और तात्त्विक नहीं है जितना भारतीय आचार्यों का।

अतएव काव्य के मान-दण्ड में सब से पहला स्थान रस और उसके प्रधान तत्त्वों का ही मानना पड़ेगा। जो काव्य इस दृष्टि से उत्कृष्ट है उसका निरादर करने का साहस किसी आलोचक को नहीं हो सकता।

अलंकार-सम्प्रदाय

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से यह सम्प्रदाय भी रस-सम्प्रदाय का समकालीन ही है क्योंकि स्वयं नाट्यशास्त्र में अलंकारों का निरूपण भी किया गया है। परन्तु इस सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य भामह हैं यद्यपि अपने ग्रन्थ 'काव्यालंकार' में भामह ने अपने को अलंकार-सिद्धान्त का प्रवर्तक न मानकर केवल उसका परिपोषक एवं परिवर्धक मात्र ही स्वीकार किया है। भामह के अतिरिक्त इस सम्प्रदाय के अन्य उन्नायकों में दण्डी, उद्भट, रुद्रट आदि का नाम लिया जा सकता है।

अलंकार-सम्प्रदाय के आचार्यों के मतों का निष्कर्ष रुय्यक ने यह निकाला है—

"अलंकारा एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मत:"

[काव्य में अलंकार ही प्रधान हैं—यह प्राचीनों का मत है।]

इस कथन का अभिप्राय यह नहीं है कि अलंकार को प्रधान मानने वाले आचार्यों ने रस आदि का वर्णन ही नहीं किया।

वास्तव में रस, अलंकार और इसी प्रकार गुण, रीति आदि भिन्न २ काव्य के मापदण्ड एक दूसरे से इतने सम्बन्धित हैं कि एक का वर्णन दूसरे के अभाव में असम्पूर्ण रहता है।

'अलंकार' क्या है ? इस प्रश्न का सीधा-साधा उत्तर यह है कि संसार में जिस प्रकार रत्नादि से निर्मित आभूषण शरीर की शोभा के कारण अलंकार कहे जाते हैं उसी प्रकार काव्य को शब्द एवं अर्थ द्वारा अलंकृत करने वाली रचना को काव्यशास्त्र में 'अलंकार' कहते हैं ।

काव्य का सम्बन्ध शब्द और अर्थ दोनों से है अतएव अलंकार भी शब्द और अर्थ में विभाजित हैं। शब्द-रचना के वैचित्र्य द्वारा काव्य को अलंकृत करने वाले अनुप्रास, यमक आदि शब्दालंकार और अर्थवैचित्र्य से उसे शोभित करने वाले उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अर्थालंकार कहलाते हैं। काव्य में 'वैचित्र्य या विचित्रता' से अभिप्राय 'लोकोत्तर अर्थात् लोगों की स्वाभाविक साधारण बोलचाल से भिन्न शैली द्वारा किया गया वर्णन' है।

'मुख चन्द्रमा के समान है', 'मुख है या चन्द्रमा है', 'मुख मानो चन्द्रमा है' आदि वाक्यों में साधारण बोलचाल का वर्णन नहीं है। इनमें एक विचित्रता है जो कथन की ओर हृदय को आकर्षित कर लेती है। यही 'उक्ति-वैचित्र्य' है और काव्य इसी उक्ति-वैचित्र्य से शोभा प्राप्त करता है। जिस काव्य में उक्ति-वैचित्र्य की जितनी सुन्दर और सत्य मात्रा होगी, वह

काव्य उसी मात्रा में उत्कृष्ट और अपकृष्ट कहलाएगा।

'अलंकार' से प्रायः 'भाषा-चमत्कार' का अर्थ लिया जाता है। यह व्याख्या संकुचित है। यदि ध्यान से देखें तो इस में भी अलंकार का वास्तविक मर्म उपस्थित है। 'चमत्कार' से अभिप्राय भाषा की बनावट से नहीं वरन् उस अभिव्यंजना की विचित्रता से है जिसके कारण भाषा अपने धर्म को सार्थक करती है। इस दृष्टि से 'चमत्कार' और 'उक्ति-वैचित्र्य' पर्यायवाची ही हो जाते हैं।

'अलंकार', 'गुण' और 'रस' का परस्पर क्या सम्बन्ध है? यह एक दूसरे के कितने सहायक हैं अथवा एक दूसरे से पृथक् हैं? इन प्रश्नों पर आचार्यों ने पर्याप्त प्रकाश डाला है। इसका सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने के लिए काव्य-प्रकाश का अष्टम उल्लास, अभिनव गुप्त के ध्वन्यालोकलोचन का चौथा उल्लास एवं महाराजा भोजकृत सरस्वति-कण्ठाभरण आदि का अध्ययन उपयोगी होगा। यहाँ इतना कहना पर्याप्त है कि अभिनव गुप्त यह स्वीकार करते हैं कि "ध्वनिकारों को केवल रसादि व्यंग्यार्थ अर्थात् 'ध्वनि' में ही नहीं किन्तु केवल वाच्यार्थ रूप अलंकारों की स्थिति में भी काव्यत्व अभीष्ट है[1]"।

इसी प्रकार मम्मट के मत का सार देते हुए काव्य-प्रकाश की 'प्रदीप' व्याख्या में श्रीगोविन्द ठक्कर ने कहा है—

---

१. ध्वन्यालोक, उल्लास ४.

'मम्मट के अनुसार स्पष्टतया तो तीन प्रकार की—(१) सरस अलंकार युक्त, (२) सरस अस्फुट अलंकार युक्त और (३) नीरस अस्फुट अलंकार युक्त रचना में काव्यत्व हो सकता है पर काव्य में चमत्कार या तो रसादि पर या अलंकार पर निर्भर है, जहाँ रस हो वहाँ तो अलंकार स्फुट न हो तो काव्यत्व के लिए रस की स्थिति पर्याप्त है। किन्तु जहाँ रस और स्फुट अलंकार दोनों ही न हों वहाँ अस्फुट अलंकार में चमत्कार न होने के कारण नीरस रचना में स्फुट अलंकार का होना आवश्यक है। अतः हम समझते हैं कि मम्मट को भी यही अभीष्ट है'।[1]

चन्द्रालोक के लेखक जयदेव अलंकार रहित रचना को—चाहे वह रस ध्वनि युक्त भी हो—काव्यत्व नहीं माना है।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ वस्तु-ध्वनि और अलंकारात्मक रचना में भी काव्यत्व स्वीकार करते हैं।

रसगंगाधर-प्रणेता पंडितराज जगन्नाथ 'रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द को काव्य' मानते हैं। उनके अनुसार रमणीयता चमत्कार पर निर्भर है। अतएव उनके अनुसार रस, रसातिरिक्त वस्तु-ध्वनि और अलंकार प्रत्येक में स्वतंत्र रूप से काव्यत्व माना जा सकता है।

अलंकारों के तत्त्व की इस व्याख्या के पश्चात् देखना चाहिए कि साहित्य में उनका व्यवहार किस प्रकार होता है और उनकी अभिव्यक्ति किस प्रकार सर्व वस्तु को चमत्कृत कर देती है

१. काव्य-प्रकाश-प्रदीप, काव्य-लक्षण की व्याख्या।

काव्य के दो वर्ण्य होते हैं—भाव और वस्तु। अलंकार या तो भाव की प्रतीति तीव्र करायेगा या वस्तु का सम्यक् बोध। प्रायः देखा जाता है कि किसी वस्तु की उत्कृष्टता दिखाने के लिए उसके समान दूसरी वस्तु से उसकी तुलना की जाती है अथवा दो विरोधी वस्तुओं को एक साथ रखकर एक का उत्कर्ष और दूसरी का अपकर्ष वर्णन होता है।

सादृश्य वर्ग के अंतर्गत जितने अलंकार आते हैं उनकी कड़ियाँ परस्पर मिली होती हैं। इनकी बीचो-बीच की कड़ी 'उपमा' अलंकार है। उपमा में 'उपमेय' और 'उपमान' दोनों में भेद भी रहता है और अभेद भी। यह भेद और अभेद घटते बढ़ते हैं। यदि 'भेद' बढ़ते-बढ़ते ऐसी सीमा तक पहुँच जाय जहाँ उपमेय और उपमान पृथक् पृथक् हो जाएँ तो 'व्यतिरेक' अलंकार होता है और यदि 'अभेद' बढ़ते २ ऐसी सीमा तक आ जाय जहाँ उपमेय और उपमान एक होजाएँ तो 'रूपक' अलंकार होता है। यदि उपमान का उत्तरोत्तर तिरस्कार और साथ ही साथ बहिष्कार भी होजाए तो 'प्रतीप अलंकार हो जाता है और इस प्रकार उपमान का लोप हो जाने एवं उसी के स्थान पर केवल उपमेय के रह जाने से 'अनन्वय' की स्थापना हो जाती है। "राम से राम, सिया सी सिया सिरमौर विरंचि विचारि सँवारे" में यही अलंकार है क्योंकि उपमेय का उपमान स्वयं उपमेय ही हो गया है।

विरोध-वर्ग के अलकारों में तीन प्रकार की स्थितियाँ दिखाई जाती हैं।

१. द्रव्य, जाति, गुण और क्रिया का पारस्परिक विरोध दिखा कर चमत्कार उत्पन्न करना जिसमें विरोध तो नहीं होता परन्तु विरोध का आभास मात्र रहता है। यथा—

'विषमय यह गोदावरी अमृतन के फल देति'

—केशव

यहाँ गुण का द्रव्य से विरोध है क्योंकि 'विषमय' का अर्थ 'ज़हरीली' और 'अमृत' (प्राण देने वाला द्रव्य) होता है। किंतु 'विष' का अर्थ 'जल' और 'अमृत' का अर्थ 'देवता' भी होता है अतएव इसका वास्तविक अर्थ हुआ 'यह विषमय अर्थात् जलमय गोदावरी अमृतों (देवताओं) का फल देती है। इस अर्थ में कोई विरोध नहीं रह जाता।

२. कारण और कार्य को लेकर विरोध दिखाया जाता है। कहीं कारण के अभाव में कार्य का होना 'विभावना' दिखाया जाता है या कारण के सद्भाव में कार्य का न होना 'विशेषोक्ति' दिखाया जाता है; कहीं कारण और कार्य में देश-काल का व्यवधान पड़ जाता है 'असंगति' और कहीं कारण और कार्य के गुण और क्रिया में अंतर दिखाई देता है यथा 'विषम' अलंकार में।

३. आधार और आधेय का चमत्कार लेकर भी विरोध दिखाया जाता है। कहीं छोटे आधार में बड़े आधेय का समा-

वेश होता है—'अल्प'—और कहीं बड़े आधार से भी और अधिक बड़ा आधेय दिखाया जाता है—'अधिक' में।

इसी प्रकार 'एकावली', 'कारणमाला', 'माला-दीपक' एवं 'सार' अलंकारों में एक बात दूसरी बात से शृंखला की कड़ियों के समान जुड़े होने से, वे शृंखला-मूलक अलंकार कहलाते हैं। अन्य वर्गों में तर्कन्यायमूलक—'हेतु', 'दृष्टान्त', 'समुच्चय' आदि; लोकन्यायमूलक—'तद्गुण' 'मीलित' आदि; तथा गूढ़ार्थप्रतीति-मूलक—'गूढ़ोक्ति', 'वक्रोक्ति', 'अन्योक्ति' आदि—अलंकार सम्मिलित हैं।

सब अलंकारों का लक्ष्य काव्य में सौंदर्य की वृद्धि करना है चाहे यह सौंदर्य शब्द-विशेष के प्रयोग में हो अथवा अर्थ में। यही सौंदर्य काव्य की आत्मा है।

पश्चिमीय विद्वानों ने भी अलंकारों को काव्य में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। अंग्रेजी की Figures of Speech हिन्दी के अलंकार ही हैं। Simile (उपमा), Metaphor (रूपक), Personification (व्यक्तिकरण), Transferred Epithet (विशेषण-विपर्यय) तथा Irony (वक्रोक्ति) आदि कुछ अलंकार अंग्रेजी हिन्दी में मिलते-जुलते हैं। परन्तु यह मानना पड़ेगा कि अलंकार-सम्प्रदाय कविता में 'कला-पक्ष' को 'भाव-पक्ष' की अपेक्षा अधिक महत्त्व देता है।

काव्य के मानदण्ड का तीसरा सम्प्रदाय 'रीति-सम्प्रदाय' है। 'रीति' शब्द 'मार्ग' का पर्यायवाची माना गया है। इस

सम्प्रदाय के प्रतिनिधि वामन ने 'रीति' का स्पष्टीकरण करते हुए कहा है—

'विशिष्टा पदरचना रीतिः।' विशेषो गुणात्मा।'

—काव्यालंकारसूत्र १।२।७–८

[रीति विशेष प्रकार की पद-रचना है। गुण उसकी आत्मा है।]

अतएव रीति का आलम्बन 'गुणों' पर है। काव्य में गुणों का वर्णन करते हुए नाट्यशास्त्र के लेखक भरत मुनि ने 'गुण' की नकारात्मक परिभाषा देते हुए कहा है कि 'दोषों का विपर्य्यय' ही गुण है। अग्निपुराण में गुण का लक्षण यह दिया गया है—

"यः काव्ये महतीं छायामनुगृह्णात्यसौ गुणः"

—३४६।३

[जो काव्य में अत्यन्त छाया (शोभा) को अनुगृहीत करता है, वह गुण है।]

इसका अभिप्राय यह हुआ कि गुण वह है जो काव्य को अत्यन्त शोभित करता है। आचार्य मम्मट ने इस प्रसंग में एक बड़ा महत्त्व-पूर्ण प्रश्न उठाया है और वह यह है कि "गुण रस के होते हैं अथवा वर्ण के ?' अपने प्रश्न का स्वयं उत्तर देते हुए वह कहते हैं—

"मनुष्य के शरीर में जैसे शूरता आदि गुण प्रधान आत्मा के होते हैं वैसे ही काव्य में प्रधान रस के उत्कर्ष करने वाले जो

धर्म हैं वे ही गुण कहलाते हैं और इनकी स्थिति अचल रहती है।"—अष्टम उल्लास

उनके कहने का अभिप्राय यह है कि 'गुण', रस के उत्कर्ष को बढ़ाने वाले हैं अतएव वे वहीं रहेंगे जहाँ रस होगा। रस के अभाव में गुणों का भी अभाव रहेगा। वर्णों द्वारा गुणों की व्यंजना अवश्य होती है। इसी तर्क को लेकर मम्मट गुणों को पृथक् न मानकर इसके अन्तर्गत उसके उत्कर्ष को बढ़ाने वाले धर्म मानकर उनके स्वतंत्र अस्तित्व को अस्वीकार करते हैं। यहाँ तक कि वह तो 'अलंकारों' तक को रस के अन्तर्गत ले लेते हैं।

गुणों की संख्या के विषय में थोड़ा मतभेद है। भरत ने १० गुण माने हैं—श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, पदसौकुमार्य, अर्थव्यक्ति, उदारता और कान्ति। अग्निपुराण में इनकी संख्या १६ हो गई है। वामन २० मानते थे और महाराजा भोज ४८। परन्तु बहुमत इस पक्ष में है कि प्रधान गुण तीन हैं—माधुर्य, ओज और प्रसाद—शेष सभी गुणों का समावेश इन तीनों में हो जाता है।

इन तीनों गुणों की प्रधानता एवं अप्रधानता के आधार पर ही तीन रीतियाँ–वैदर्भी, गौड़ी और पाँचाली–भी मानी गई हैं। ये नाम देश-विशेषों की रचना-शैली के आधार पर रखे गए हैं। आचार्य मम्मट 'रीति' के स्थान पर 'वृत्ति' शब्द अधिक उपयुक्त मानते हैं और इन्हें क्रमशः 'उपनागरिका', 'परुषा' और 'कोमला'

कहते हैं। प्रथम में माधुर्य-गुण-व्यंजक वर्णों की प्रधानता, दूसरी में ओज-गुण-व्यंजक वर्णों की प्रधानता और तीसरी में इन दोनों के अतिरिक्त वर्णों की प्रधानता होती है।

माधुर्य गुण में ट, ठ, ड, ढ से रहित ककार से लेकर मकार तक के वर्ण अपने वर्ग के अन्तिम वर्ण के साथ इस प्रकार संयुक्त रहते हैं कि पंचम वर्ण पहिले आता है और स्पर्श वर्ण पीछे, रेफ और णकार ह्रस्व स्वर से अन्तरित होते हैं। समास या तो होता ही नहीं और यदि होता है तो बहुत थोड़ा-सा। वाक्य के दूसरे पदों के योग से उत्पन्न होने वाली रचना माधुर्य से युक्त रहती है। इन सब अंगों के एकत्र सहयोग से वैदर्भी रीति की उत्पत्ति मानी गई है।

ओजगुण में वर्ग के प्रथम तथा तृतीय वर्णों का क्रम से ही द्वितीय तथा चतुर्थ वर्ण के साथ संयोग होता है—यथा प्रच्छ, वद्ध। रेफ के साथ किसी वर्ण का आगे या पीछे योग—यथा अर्क, निर्ह्राद; किसी वर्ण का उसी वर्ण के साथ योग—यथा चित्त, वित्त; ट, ठ, ड, ढ तथा श, ष का प्रयोग भी इसमें होता है। ओजगुण से युक्त दीर्घ समास वाली विकट रचना गौड़ी रीति मानी गई है।

पश्चिम के आलोचना-शास्त्र में इसी का नाम Style है। इस शब्द भी व्युत्पत्ति लैटिन के Stilus, Stylus से है जिसका अर्थ है 'लोहे की लेखनी'। प्राचीन काल में जब पट्टियों पर मोम जमाकर लिखा जाता था केवल लोहे की लेखिनी ही उस पर स्थायी

लेख लिखने में समर्थ थी, शेष सभी साधन परिवर्तनशील थे। अतएव लोहे की लेखनी द्वारा अभिव्यंजित मानव का भाव स्थायित्व को प्राप्त होता था। व्यक्तित्व को स्थायी रूप देने का कारण लेखनी है। यही कारण है कि पश्चिम में एक उक्ति प्रसिद्ध है 'Style is the man'—'रीति ही व्यक्ति है'।

रीति (Style) का सम्बन्ध विषय के प्रतिपादन करने वाले 'साधन' से है। अरस्तू ने अपने Rhetorics में दो प्रकार की रीतियाँ मानी हैं—

१. साहित्यिक (Litrary) जिसका प्रयोग साहित्य के ग्रन्थों में होता था।

२. वादात्मक (Controversial) जिसका प्रयोग किसी तर्क के खण्डन-मंडन में किया जाता था।

रीतियों की व्याख्या के साथ अरस्तू ने शैली के निमित्त दो सामान्य गुण एवं चार दोषों का भी वर्णन किया है।[1] गुणों में Perspicuity और Propriety हैं। प्रथम भारतीय साहित्य-शास्त्र के 'प्रसाद' गुण का बोधक है और दूसरा 'औचित्य' का। 'प्रसाद' गुण के अन्तर्गत वही रचना आती है जो सुगमता से समझ में आजाए।

अरस्तू के अनुसार चार दोष ये हैं—

१. समासों का प्रयोग—प्रयोग उचित स्थान पर तो हो सकता है परन्तु अनुपयुक्त प्रयोग दोष बन जाता है।

---

1. Rhetorics Book III chap. 2, 3.

२. विदेशी शब्दों का प्रयोग—'विदेशी' से अभिप्राय उन शब्दों से है जो दूसरी भाषा के हैं और जिनका चलन उस भाषा में नहीं हुआ है जिसमें लेखक उनका प्रयोग करता है।

३. विशेषणों का प्रयोग—लम्बे, अशिष्ट विशेषणों का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

४. रूपक का प्रयोग—अश्लील और अस्पष्ट रूपक का प्रयोग दोष है।

यदि ध्यान से देखा जाय तो अरस्तू द्वारा कथित चारों दोष आचार्य मम्मट के द्वारा प्रदर्शित अप्रयुक्त, अपुष्टार्थ, अविमृष्ट विधेयांश (जहाँ पर विधेय समास के अन्तर्गत होकर छिप जाए या अप्रधान बन जाए), तथा रूपकगत अनुचितार्थ आदि दोषों में भली भाँति परिलक्षित होते हैं। उनका कहना 'प्रशंसा के निमित्त उल्लासमयी शैली, दयाप्रदर्शन के अवसर पर समर्पण-प्रतिपादक शैली और क्रोध आदि उग्र भावों से प्रभावित व्यक्ति के वचनों में समस्त-पद, विशेषण की बहुलता तथा विदेशी शब्दों का प्रयोग सर्वथा सुसंगत है"[1] भारतीय ओज एवं माधुर्य से

---

1. "A style of exultation for praise, a style with submission if in pity. But compound words and plurality of epithets and foreign idioms are appropriate chiefly to one who speaks under excitement of some passion." Aristotle.

युक्त गौड़ी तथा वैदर्भी शैली का ही परिचायक है।

रीति-सम्बन्धी विशेष विवेचन शैली वाले अध्याय में आगे मिलेगा।

काव्य-सम्बन्धी चौथा सम्प्रदाय 'वक्रोक्ति-सम्प्रदाय' है अलंकार रूप में 'वक्रोक्ति' (श्लेष एवं काकु) की उद्भावना आचार्य रुद्रट ने की यद्यपि उनके पहिले भामह और दण्डी इस विषय में अपना मत प्रदर्शित कर चुके थे। उनके अनुसार वक्रोक्ति वचनों की अलंकृति है। बिना वक्रोक्ति के काव्य में सौंदर्य प्रतीति नहीं होती। भामह ने वक्रोक्ति का समीकरण अतिशयोक्ति के साथ किया है। 'अतिशयोक्ति' का लक्षण बताते हुए वह कहते हैं—

"लोकातिक्रान्तगोचरं वचनम्"

[वह उक्ति जिसमें लोक के (साधारण जन के) कथन का अतिक्रमण (उल्लंघन) किया गया हो।]

और यही लक्षण फिर 'वक्रोक्ति' का भी हो जाता है। दण्डी तो समस्त काव्य को ही दो भेदों—स्वभावोक्ति एवं वक्रोक्ति—में विभाजित कर डालते हैं और 'रसवद्' अलंकार को भी वक्रोक्ति के अन्तर्गत मानते हैं। वामन और रुद्रट में अन्तर इतना ही है कि वामन वक्रोक्ति को अर्थालंकार मानते हैं और रुद्रट उसे शब्दालंकार।

अभिनव गुप्त ने वक्रोक्ति के विषय में कहा है—

"वक्रता दो प्रकार की होती है—शब्द-वक्रता और अभिधेय

वक्रता। 'वक्रता' का अर्थ है लोकोत्तर रूप से स्थिति। लोकोत्तर रूप से अवस्थान होने पर ही अतिशयोक्ति होती है। इसीलिए अतिशयोक्ति अलंकार सामान्य रूप से ग्रहण होता है। अतिशयोक्ति का प्रयोजन गंभीर एवं उपादेय होता है। इस रुचिर अलंकार के योग होने से समस्त मनुष्यों के द्वारा उपभोग किए जाने से पुराना भी अर्थ विचित्रता से उद्भासित होने लगता है तथा प्रमदा, उद्यान आदि वस्तुएँ विशेष रूप से भावित की जाती हैं अर्थात् वे रसमय की जाती हैं"।

वक्रोक्ति-सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य थे कुन्तक। अपनी रचना का उद्देश्य बताते हुए उन्होंने कहा है—

"लोकोत्तर-चमत्कारकारि वैचित्र्य-सिद्धि अर्थात् अलौकिक या असामान्य आह्लाद को उत्पन्न करने वाले वैचित्र्य का वर्णन"।

कुन्तक इस प्रकार 'शास्त्र या व्यवहार में प्रसिद्ध शब्दार्थ की रचना से विलक्षण वस्तु' को ही वक्रोकित मानते हैं। काव्य का उद्देश्य सुनने वाले के हृदयों में अलौकिक आह्लाद का उन्मीलन होता है और यह तभी प्राप्त हो सकता है जब शब्द का प्रयोग शास्त्रादि में मान्य प्रयोगों से दूर हटकर विचित्रता-सम्पन्न हो। महिमभट्ट ने भी कुन्तक के इस कथन की पुष्टि की है—

'प्रसिद्धं मार्गमुत्सृज्य यत्र वैचित्र्यसिद्धये।
अन्यथैवोच्यते सोऽर्थः सा वक्रोक्तिरुदाहृता॥

—महिम भट्ट

[वैचित्र्य की सिद्धि के लिए जहाँ प्रसिद्ध मार्ग का परित्याग

कर वही अर्थ किसी दूसरे ही प्रकार से प्रतिपादित किया जाय वहीं वक्रोक्ति है।]

कुन्तक वह आचार्य हैं जिन्होंने 'साहित्य' शब्द का प्रयोग किया है और उसे 'शब्द' एवं 'अर्थ' का समन्वय माना है।

'शब्दार्थौ सहितौ वक्र कवि-व्यापार-शालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लाद-कारिणि॥

—वक्रोक्ति-जीवित

[कवि के वक्र व्यापार से सुशोभित तथा काव्य के वेत्ताओं को आह्लाद करने वाले, बन्ध में रखे गए, सहित शब्द और अर्थ ही 'काव्य' कहे जाते हैं।

अपनी यह परिभाषा देकर कुन्तक 'शब्द' और 'अर्थ' को काव्य का शरीर होने के कारण 'अलंकार्य' मानते हैं। इस 'अलंकार्य' (शरीर) का एक ही अलंकार है और वह 'वक्रोक्ति' है—

"वैदग्धभंगीभणिति"

[वैदग्ध=कविकर्म की कुशलता, भंगी=विच्छित्ति, चमत्कार, चारुता; भणिति=कथन का प्रकार, अर्थात् कविकर्म की कुशलता (कवि-व्यापार) से उत्पन्न होने वाले चमत्कार के ऊपर आश्रित होने वाला कथन-प्रकार।]

"कविकर्म की कुशलता अथवा कवि-व्यापार" से अभिप्राय होता है कवि की ईश्वरप्रदत्त 'प्रतिभा अथवा प्रज्ञा' से। अभिनव गुप्त के साहित्य-गुरु श्री भट्ट तौत ने 'प्रज्ञा नवनवोन्मेष-

शालिनी प्रतिभा मता' कहकर नए-नए अर्थ की उद्भावना करने वाली शक्ति को ही 'प्रतिभा' माना है। कुन्तक का भी यही मत है। परन्तु कुन्तक का यह मत अन्य आचार्यों से कुछ विशेषता रखता है। कुन्तक रसहीन वैचित्र्य को वक्रोक्ति नहीं मानते। केवल उक्ति का चमत्कार ही काव्य का जीवन नहीं—बिहारी की इस उक्ति में—

औंधाई सीसी सुलखि, विरह बरति बिललात।
बीचहि सूखि गुलाब गो, छींटो छुयौ न गात॥

अनूठापन ही अधिक है, रस-संचार कम है। परन्तु कवि-वर देव के इस सवैये में—

"साँसन ही में समीर गयो अरु आँसुन ही सब नीर गयो ढरि।
तेज गयो गुन लै अपनो अरु भूमि गई तन की तनुता करि।
'देव' जियै मिलि बोई की आस कै, आसहु पास अकास रह्यो भरि।
जा दिन तें मुख फेरि हटै हँसि, हेरि हियो जो लियो हरिजू हरि॥

काव्य-माधुर्य भी है और वियोग-वर्णन के साथ-साथ उक्ति-चमत्कार भी। वियोगिनी नायिका के शरीर को संघटित करने वाले पाँचों तत्त्व धीरे-धीरे निकले जा रहे हैं—साँस रूप में वायु, आँसू रूप में जल, म्लान दशा के रूप में तेज और शरीर-कृशता के रूप में भू-तत्त्व। केवल आकाश (शून्य) ही रह गया है चारों ओर और वह भी इस कारण कि मिलन की आशा बँधी हुई है। अन्यथा जिस दिन श्रीकृष्ण ने मुँह फिराकर मुस्कराते

हृदय को हर लिया उसी दिन से नायिका की तो मृत्यु ही
भयी।

कवि की इस उक्ति में यद्यपि वक्रोक्ति-जन्य चमत्कार स्पष्ट
ा से व्यक्त है परन्तु इस चमत्कार में विरह-वेदना की झलक
प्रगट है और वहीं पर जाकर सहृदयों का हृदय रम जाता
। एक अन्य कवित्त में राधा-कृष्ण के परिहास का वर्णन श्लेष
आधार पर किया गया है—

"खोलो जू किवार", "तुम को हो एतीवार?".
"हरि नाम है हमारो", "वसो कानन, पहार में"।
"हौं तो प्यारी! माधव", "तो कोकिला के माथे भाग".
"मोहन हौं प्यारी", "परो मंत्र-अभिचार में"।
"रागी हौं रंगीली!", "तौ जु जाहु काहु दाता पास",
"भोगी हौं छबीली!", "जाय बसौ जू पतार में"।
"नायक हौं नागरी!", "तो हाँकौ कहूँ टाँड़ो जाय",
"हौं तो घनश्याम", "बरसौ जू जाय काहू खार में"॥

[कृष्ण अपना नाम बताकर परिचय देते हैं परन्तु राधिका
नका अन्य अर्थ समझकर उनको अपने पास से टालती हुई
तीत होती है—

हरि=कृष्ण, बन्दर; माधव=कृष्ण का नाम, वसन्त; मोहन
कृष्ण, मोहन प्रयोग (मारण); रागी=अनुरक्त, गवैया;
ोगी=अनुरक्त, सांप; नायक=नायक, बंजारा; घनश्याम=
ष्ण, बादल; टांड़ा=व्यापार की वस्तुएँ]

वक्रोक्तिकार ने अपने मत के प्रतिपादन में काव्य-सम्बन्धी सभी प्रसंगों पर तर्कपूर्ण प्रकाश डाला है और अनेक प्रकार की 'वक्रोक्तियों' की स्थापना कर अपने कथन-चमत्कार की काव्य में उत्कृष्टता का प्रतिपादन किया है। इस दृष्टि से 'रीति-सम्प्रदाय' और 'वक्रोक्ति-सम्प्रदाय' में व्यावहारिक रूप में कोई भेद नहीं रह जाता। दोनों मत अपने-अपने अनुसार काव्य में चमत्कृत शैली का प्राधान्य मानते हैं।

पश्चिमीय विद्वानों ने भी अपने ढंग से वक्रोक्ति को काव्य में बड़ा ऊँचा स्थान दिया है। अरस्तू का कहना है—

"The Diction becomes distinguished and non-prosaic by the use of unfamiliar terms, i.e. Strange words, metaphors, Lengthened forms and everything that deviates from the ordinary modes of speech."

—Poeties Sec. 22

[रीति को महत्त्वपूर्ण और विशिष्ट होने के लिए अपरिचित शब्दों (विचित्र शब्द, रूपक, वृद्धिगत रूप तथा कथन के सामान्य प्रकार से पृथक् होने वाली प्रत्येक वस्तु) के प्रयोग की आवश्यकता पड़ती है। तभी वह काव्य पूर्ण (गद्य-हीन) होते हैं।]

अरस्तू की यह उक्ति भारतीय विचारधारा से बिल्कुल मेल खाती है क्योंकि उनके अनुसार भी तो रीति को 'लोकोत्तर वैचित्र्य का उत्पादन करना आवश्यक है। सामान्य से भिन्न

होने वाली शैली ही हमारे आनन्द को विशेष रूप से रसान्वित करती है'—

"The reason is that such variation imparts greater dignity to style; for the people have the same feeling about style as about foreignes in comparison with their fellow citizens—they admire most what they know least......we all admire anything which is out of the way, and there is a certain pleasure in the object of words." —Rhetoric

अपने आलोचना ग्रन्थ 'On the sublime' में लांगिनस ने Sublimity (उदात्तता) को कविता का सर्वस्व माना है। काव्य में 'उदात्त' का भाव तभी आ सकता है जब उसकी अभिव्यंजना में अलौकिकता हो—

"For what is out of the common leads an audience, not to pursuation, but to ecstasy (or transport)".

[जो साधारण से परे है उसी के द्वारा श्रोता आनन्द-विभोर हो सकता है।]

लोक को अतिक्रमण करने की जो बात लांगिनस ने लिखी है उसमें 'वक्रोक्ति' का ही सांकेतिक समावेश है। जानसन और एडिसन के मत भी इस विषय में समान हैं।[1]

---

[1] देखो Johnson—Lines of the English Poets (cowley) Addison—On Milton.

जिस प्रकार नेत्रों में 'अंजन' लगाने से वह अस्फुट वस्तु भी स्फुट कर देता है उसी प्रकार व्यंजना (विशेष प्रकार का अंजन) है जो अभिधा और लक्षणा द्वारा बोध न होने वाले अस्फुट अर्थ 'व्यंग्यार्थ' का बोध कराती है। अपने समय तक के प्रचलित काव्य-सम्प्रदायों में 'ध्वनि-सम्प्रदाय ने एक अभूतपूर्व परिवर्तन कर दिया। रस, रीति, अलंकार आदि में जो परस्पर संघर्ष-सा चला आ रहा था उस सब को ध्वनि-सिद्धांत ने पराभूत कर डाला।

ध्वनि के भिन्न-भिन्न भेद और विषयक्रम से उनके उपभेद निरूपित कर ध्वनिकारों ने, ध्वनि-काव्य में अपने पूर्व प्रचलित सभी सिद्धान्तों का समावेश कर डाला। परिणाम यह हुआ कि काव्य का क्षेत्र विशाल बन गया और उसमें सर्वत्र 'ध्वनि' का ही साम्राज्य स्थापित हो गया।

प्रचलित 'अभिधा' और 'लक्षणा' के आधार पर ही उन्होंने ध्वनि को दो भेदों में विभक्त किया—

१. अभिधा-मूला-ध्वनि अथवा विवक्षित अन्यपरवाच्य ध्वनि।

२. लक्षणा-मूला-ध्वनि अथवा अविवक्षित वाच्य ध्वनि।

अभिधामूला ध्वनि में ऐसे काव्य का समावेश किया गया है जिसमें वाच्यार्थ की विवक्षा (आशय, तात्पर्य) रहती है। इसमें वाच्यार्थ भी वांछनीय रहता है पर वह अन्यपरक अर्थात् व्यंग्यनिष्ठ होता है। इस ध्वनि में वाच्यार्थ का बोध होने

के बाद क्रमशः व्यंग्यार्थ की ध्वनि निकलती है। इसके दो भेद होते हैं—

असंलक्ष्य-क्रम-व्यंग्य ध्वनि और संलक्ष्य-क्रम-व्यंग्य ध्वनि। जहाँ वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का पौर्वापर्य क्रम भली प्रकार प्रतीत न हो वहाँ असंलक्ष्य और जहाँ प्रतीत हो वहाँ संलक्ष्य ध्वनि माननी चाहिए। 'पूर्वापर क्रम' से अभिप्राय है उस क्रम से, जो एक के पश्चात् दूसरे के होने से बनता है; यथा पहले विभाव तदनन्तर अनुभाव और फिर व्यभिचारी भावों की प्रतीति के पश्चात् ही रस की प्रतीति होती है। यही क्रम 'पूर्वापर क्रम' है परन्तु आनन्दानुभव करते समय यह क्रम जाना नहीं जाता; ठीक उसी प्रकार जिस तरह कमल के एक सौ पत्तों में सुई से छेद किए जाने पर भी—यद्यपि पत्तों में क्रमशः छेद होता है—वह कार्य इतना शीघ्र होता है कि उनका पूर्वापर क्रम जाना नहीं जाता।

उपादान-संभार बिनु जगत-चित्र बिन भीत।
कलाकार हर ने रच्यौ बंदौं उन्हैं विनीत॥

[संभार (सृष्टि) के उपादान (सामग्री) के विना, भीत (दीवार) के अभाव में जगत् रूपी चित्र जिन कलाकार हर (महादेव) ने रचा है, मैं उनकी विनीत भाव से वंदना करता हूँ।]

इस दोहे में वाच्यार्थ स्पष्ट है परन्तु शंकर की कला के उत्कर्ष की ध्वनि-मात्र है। अतएव 'व्यतिरेक' अलंकार नहीं है परन्तु उसकी ध्वनि इसमें व्यंजित है। यदि 'चित्र' और 'कला' शब्द

इसमें से हटाकर दूसरे शब्द रख दिए जाएँ तो व्यंग्यार्थ प्रतीत नहीं हो सकता अतएव इसमें शब्द-शक्ति द्वारा उद्भूत अलंकार-ध्वनि स्पष्ट है। अतएव यह उदाहरण संलक्ष्य-क्रम-व्यंग्य ध्वनि का है। परन्तु निम्न कवित्त में—

हरि-सुत[१]-श्रौन हर-श्रौन[२] हरि[३] दैहैं कर,
घरी-घरी घोर धनु घंट घननाटे तें;
भूरि रव भूरि भट-भीर भार भूमि-भार,
भूधर भरेंगे भिंदिपाल भननाटें तें।
खप्पर खनक हैं न खेटक के खप्पर हाँ,
खेटकी[४] खिसकि जैहैं खग्ग[५] खननाटे तें;
भूलि जैहैं जानधर[६] जान को चलान बान,
बानधर[७] मेरे पान[८] बान सननाटे तें॥

कर्ण कुछ कह रहा है। उसके शब्दों में वीर रस की व्यंजना है—श्रीकृष्ण और अर्जुन आलम्बन हैं, उनके द्वारा भीष्म आदि का जो पतन हो चुका है उसकी 'स्मृति' उद्दीपन है। हर्ष, गर्व, औत्सुक्य व्यभिचारी हैं, ये वाक्य अनुभाव हैं।

यद्यपि यहाँ वीररस—जो व्यंग्यार्थ है—आलम्बन विभावादि के ज्ञान के बाद ही ध्वनित होता है परन्तु रस के आनन्दानुभव की अपेक्षा वह अल्पकालिक क्रम प्रतीत नहीं होता। अत-

---

१. इन्द्र-सुत=अर्जुन; २. रथ के घोड़े; ३. श्रीकृष्ण; ४. ढाल धारण करने वाले; ५.खड्ग; ६. रथ धारण करने वाले सारथी=कृष्ण; ७. बाण धारण करने वाले=अर्जुन; ८. हाथ।

ण्व असंलक्ष्य-क्रम-व्यंग्य ध्वनि का उदाहरण है।

अभिधा-मूला असंलक्ष्य-क्रम-व्यंग्य ध्वनि के अन्तर्गत आते हैं—रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि और भावशवलता। इनमें से रस और भाव का विवेचन पहले किया जा चुका है। शेष का यथास्थान आजायगा।

असंलक्ष्य-क्रम-व्यंग्य ध्वनि के अनुसार संलक्ष्य-क्रम-व्यंग्य ध्वनि के ४१ भेद होते हैं परन्तु उनमें तीन प्रमुख हैं—शब्द-शक्ति-उद्भव अनुरणन, अर्थशक्ति-उद्भव अनुरणन और शब्दार्थ-उभय-शक्ति-उद्भव अनुरणन ध्वनि।

'ध्वनि' के विस्तार में जाने की यहाँ आवश्यकता नहीं। अंगरेजी आलोचना शास्त्र में 'ध्वनि' से मिलता-जुलता शब्द 'Suggestion' है। कहा जाता है कि कविता को 'Suggestive' होना चाहिए अर्थात् वह वर्णनात्मक न होकर प्रधानतया ध्वन्यात्मक होनी चाहिए।

ध्वनि की इस व्याख्या के आधार पर यह प्रश्न हो सकता है कि फिर 'वक्रोक्ति' और 'ध्वनि' में अन्तर क्या है?

उत्तर स्पष्ट है—कुन्तक अभिधावादी आचार्य थे। उनके मत से अभिधा-शक्ति ही कवि के अभीष्ट अर्थ की अभिव्यंजना में समर्थ होती है। यह अवश्य था कि उनकी अभिधा केवल संकीर्ण शब्द-वृत्ति-मात्र नहीं है। उनकी अभिधा का क्षेत्र इतना व्यापक था कि उसमें लक्षणा और व्यंजना का अन्तर्भाव भी सम्पन्न हो जाता है। कुन्तक मानते थे कि 'वाचक' शब्द 'द्योतक'

और 'व्यंजक' दोनों प्रकार के शब्दों का उपलक्षण है।[1] दोनों में सामान्य धर्म है—अर्थप्रतीतिकारिता; अर्थात् जिस प्रकार वाचक शब्द अर्थ-प्रतीति कराता है, उसी प्रकार 'द्योतक' तथा 'व्यंजक' शब्द भी अभीष्ट अर्थ की प्रतीति कराते हैं। उनका कथन है कि 'वाचक' शब्द वही है जो कवि के द्वारा अभीष्ट विशेष अर्थ के प्रतिपादन में समर्थ होता है'।

इस प्रकार कुन्तक शब्द की तीनों शक्तियों को काव्य में स्वीकार करते हैं परन्तु सुगमता के कारण लक्षणा और व्यंजना को अभिधा के अन्दर ही रखते हैं। वक्रोक्ति के विशिष्ट प्रकारों के भीतर ध्वनि के अनेक विभेदों को जिस प्रकार कुन्तक ने समेट कर रख लिया है, वह भी इसी का द्योतक है कि अपनी सिद्धान्त-प्रणाली में कुन्तक ने ध्वनि को सम्मिलित कर लिया है।

काव्य के मानदण्ड का छठा सम्प्रदाय "औचित्य-सम्प्रदाय" है।

'औचित्य' को काव्य-तथ्य के रूप में प्रतिष्ठित करने में तीन आचार्य मुख्य थे। नाट्यशास्त्र के प्रणेता भरत ने नाटकाभिनय के प्रसंग में औचित्य की व्यापकता एवं मान्यता का पहली बार वर्णन किया है। काव्य के विविध अंगों में औचित्य का प्रतिपादन आनन्दवर्धन ने अपने ध्वन्यालोक में किया और उसे

---

१. वक्रोक्ति-जीवित १।८.

काव्य के व्यापक तत्त्व रूप में आचार्य क्षेमेन्द्र ने प्रतिष्ठापित करा दिया। आचार्य क्षेमेन्द्र ध्वन्यालोक के प्रसिद्ध व्याख्याकार अभिनव गुप्त के पट्ट शिष्य थे और उन्होंने अपने 'औचित्य' का प्रतिपादन ध्वन्यालोक से प्रेरणा लेकर ही किया है। उनका स्पष्ट सिद्धान्त है—

"औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्"

[रससिद्ध काव्य का स्थिर जीवित औचित्य है।]

'औचित्य' के स्वरूप का वर्णन करते हुए क्षेमेन्द्र कहते हैं—

"उचितं प्राहुराचार्याः, सदृशं किल यस्य यत्।
उचितस्य च यो भावः, तदौचित्यं प्रचक्षते"॥

[जो वस्तु जिसके अनुरूप होती है उसे 'उचित' कहा जाता है और उचित का भाव ही 'औचित्य' कहलाता है।]

लोक एवं कला दोनों क्षेत्रों में औचित्य का नियम स्वतःसिद्ध है। मुकुट पहिनने का स्थान सिर है। उसी पर मुकुट का रखना उचित है, पैरों पर नहीं। नूपुरों का स्थान पैर हैं, वहीं उनका पहनना उचित है, हाथ की अंगुलियों पर नहीं। अनन्तता का भाव दर्शाने के लिए ही 'नील रंग' का प्रयोग कला में उचित है अन्य भाव के लिए नहीं।

नाटक के स्वरूप, तथ्य एवं अभिनय का वर्णन करते हुए उनके साथ अंगभूत अन्य सुन्दर कलाओं का विवेचन करते समय, नाट्य के विषय में भरत मुनि ने कहा है—

"नानाभावोपसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकम् ।
लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम्" ॥

[नाना भावों से सम्पन्न, नाना अवस्थाओं के चित्रण से संयुक्त, लोकवृत्त का अनुकरण नाट्य है ।]

क्या ग्राह्य है और क्या त्याज्य है ? इस प्रश्न का उत्तर 'लोक' है। अतएव जो धर्मसम्मत है, शिल्पसम्मत है वही उचित है। 'लोक-प्रामाण्य' के इस तत्त्व का विवेकपूर्ण पालन नाट्य में अत्यन्त आवश्यक है और इसी कारण भरत ने भिन्न-भिन्न प्रकार के पात्रों की वेशभूषा, भाषा, सम्बोधन आदि सभी आवश्यक बातों को विस्तार से लिखा है । संक्षेप में उनका कथन है—

'वयोऽनुरूपः प्रथमस्तु वेषो ,
वेषानुरूपश्च गतिप्रचारः ।
गतिप्रचारानुगतं च पाठ्यं ,
पाठ्यानुरूपोऽभिनयश्च कार्यः ॥

[उमर के अनुसार वेष, वेष के अनुकूल गति और क्रिया; गति-प्रचार के अनुरूप पाठ्य और पाठ्य के अनुसार अभिनय होना चाहिए ।]

चार प्रकार—आंगिक, सात्त्विक, वाचिक, आहार्य—के अभिनय की जो व्याख्या भरत ने की है उसका कारण 'औचित्य' का प्रतिपादन ही है; क्योंकि—

"अदेशजो हि वेषस्तु न शोभां जनयिष्यति।
मेखलोरसि बन्धे च हास्यायैवोपजायते" ॥

[देश के प्रतिकूल वेषभूषा से शोभा उत्पन्न नहीं हो सकती। गले में मेखला पहनना केवल हास्य उत्पादन का ही विषय बन जाता है।

भरत के उपरान्त अन्य आचार्यों ने भी अलंकारों की विवेचना में औचित्य पर ध्यान दिया है परन्तु इस सिद्धान्त के विकास में आनन्दवर्धन का विशेष महत्त्व है। उन्होंने काव्य के प्राणभूत रस के साथ इसका घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किया।

आनन्दवर्धन के मतानुसार रस कभी भी 'वाच्य' नहीं हो सकता। ध्वनि के द्वारा उसकी अभिव्यक्ति हो सकती है। अतः 'रस' या 'रस-ध्वनि' को वह काव्य की आत्मा मानते हैं। रस के लिए आवश्यक तथ्य है औचित्य और काव्य में यह दो रूपों में पाया जाता है—

१. वस्तु-औचित्य—विषय और तत्सम्बन्धी कल्पना में औचित्य।

२. अलंकारौचित्य—वाचिक शोभा का औचित्य। इन दोनों का समावेश 'अलंकारौचित्य' में ही हो जाता है क्योंकि अलंकार की सत्ता अलंकार्य (जिस वस्तु को अलंकार से सुशोभित किया जाय) पर निर्भर है। यदि अलंकार्य ही शून्य है तो अलंकार की संभावना कहाँ ? क्योंकि वह तो केवल बाह्य आभूषण-मात्र है जिसकी स्वयं कोई सत्ता नहीं। अतएव आनन्द-

वर्धन के अनुसार काव्य में किसी भी वस्तु की उपादेयता तथा अनुपादेयता, संबद्धता एवं असंबद्धता, कोमलता तथा परुषता सब कुछ रस के पोषण पर निर्भर है। रस-पोषण के सहायक हैं—

१. अलंकारौचित्य—

२. गुणौचित्य—गुण रस का धर्म है और रस धर्मी।

३. संघटनौचित्य—पदों की सम्यक् रचना (संघटना)

४. प्रबन्धौचित्य—प्रबन्ध चाहे पुराण आदि इतिवृत्त के आधार पर लिखा गया हो और चाहे ऐतिहासिक अथवा प्रख्यात इति-वृत्त के आधार पर, दोनों में औचित्य का होना आवश्यक है। ऐसा न होने पर 'प्रबन्ध-ध्वनि' की सृष्टि में बाधा होगी।

प्रयोजनीय वर्णनों में रस-औचित्य अत्यन्त आवश्यक है।

५. रीत्यौचित्य—रसदोषों से बचने के लिए रीतियों का औचित्य आवश्यक है।

६. रसौचित्य—इसकी महत्ता निर्विवाद है।

ध्वन्यालोक के इन विचारों को आचार्य क्षेमेन्द्र ने एक निश्चित सिद्धान्त-भित्ति पर लाकर प्रतिष्ठित कर दिया। क्षेमेन्द्र रस को काव्य की 'आत्मा' और औचित्य को 'जीवन' मानते हैं। उनके मतानुसार काव्य का प्राणरूप है 'रस' और जीवभूत है 'औचित्य'। दोनों शब्द पर्यायवाची नहीं हैं।

रस से सिद्ध (सम्पन्न) काव्य का स्थिर जीवन औचित्य ही है। जिस प्रकार पारद-रस के सेवन से शरीर में स्थिरता आती है और यौवन चिरस्थायी बना रहता है उसी प्रकार रस

से काव्य स्थिरता और औचित्य से जीवन ग्रहण करता है।

इस प्रकार ध्वनि और औचित्य के सिद्धान्त एक दूसरे से चोली दामन की तरह गुँथे हुए हैं।

पाश्चात्य साहित्य में भी 'औचित्य' पर विचार हुआ है। अरस्तू ने अपने ग्रन्थों—Poetics और Rhetorics—में औचित्य-तत्त्व की समीक्षा भली प्रकार की है। नाटक-शास्त्र के सम्बन्ध में संकलन-त्रय (Three unities of Plot, Place and Action) का महत्त्व स्वयं औचित्य के प्रभाव का द्योतक है। वस्तु, स्थान और घटना सम्बन्धी औचित्य की उपयोगिता और आवश्यकता इसी के अन्तर्गत आ जाती है।

रूपकौचित्य का वर्णन अरस्तू ने गद्य एवं पद्य को अलंकृत करने के सम्बन्ध में किया है। रूपक के प्रयोग के विषय में उसका कहना है—

"If it is your wish to adorn a subject, the proper means is to borrow your metaphor from things superior to it—which fall under the same germs; if to disparage it, from such things as are inferior."

"The metaphors should not be far-fetched but derived from cognate and homogeneous subjects, giving a name to something which before was nameless and manifesting their cognate character as soon as they are uttered." —Rhetoric.

[यदि अपने वर्ण्य विषय को अलंकृत करना है तो उसका उचित साधन यह है कि तुम्हारा रूपक विषय के अनुरूप वर्ग की उच्च कोटि की वस्तुओं में से लिया जाय और यदि उसका अपकर्ष वर्णन करना है तो रूपक उससे हीन वस्तुओं में से चुना जाए।

रूपक दूरंगामी नहीं होना चाहिए। उसका चुनाव समान-जाति और समान धर्म विशिष्ट विषयों में से ही होना चाहिए।]

अन्यथा औचित्य के अभाव में काव्य दोष रहित नहीं रह सकेगा।

अरस्तू विषय के अनुकूल भाषा और भावानुकूल रसौचित्य पर भी ज़ोर देते हैं।

"The means of expressing emotions, if the matter is an insult, is the language of anger; if it is impiety or foulness, that of indignation...............if it is something laudable, that of admiration......and so on............"

"The appropriateness of language is one means of giving an air of probability to the case, as the minds of the audience draw a wrong inference of the speaker's truthfulness from the similarity of their own feelings in similar circumstances, and are thus led to suppose that the facts are as he represents

them, even if this is not really so."

"It is a general result of these considerations that if a tender subject is expressed in harsh language or a harsh subject in tender language, there is a certain loss of persuasiveness."

—Rhetoric

अरस्तू की यही विचारधारा होरेस (Horace) एवं अन्य पश्चिमीय आलोचकों के ग्रन्थों में भी मिलती है। भेद इतना ही है कि भारतीय आचार्यों ने इस तत्त्व का विवेचन भी, अपनी शास्त्रीय परम्परा के अनुसार, बड़ी गहनता और वैज्ञानिकता से किया है परन्तु पाश्चात्य विद्वानों ने यथाप्रसंग औचित्य की केवल उपयोगिता मात्र का उल्लेख कर दिया है।

उपरोक्त विवेचन में काव्य के मानदण्डों का संक्षिप्त उल्लेख किया गया है। काव्य के स्वरूप को, उसके आधारभूत जीवित के स्वरूप को समझ लेने पर काव्य के आनन्द का रसास्वादन करना और उसके सौन्दर्य से मुग्ध होना कठिन नहीं है। परन्तु सबके भाग्य में न तो काव्य लिखने की प्रतिभा ही होना संभव है और न प्रत्येक पाठक के हृदय में उसके आनन्द को प्राप्त करने की प्रेरणा का अस्तित्व ही स्वीकार किया जाता है। वास्तव में काव्य के आनन्द का अधिकारी वही है जिसे 'सहृदयी' कहा जाता है। हृदय तो सभी का होता है परन्तु 'सहृदयी' सब नहीं होते। अभिनवगुप्त ने सहृदयी का जो लक्षण बताया है

वह बड़ा ही स्पष्ट और आवर्जक है—

येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद् विशदीभूते मनोमुकुरे, वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते हृदयसंवादभाजः सहृदयाः ॥

[काव्यानुशीलन के अभ्यास से जिनका मनोमुकुर विशाल हो गया है, जो वर्णनीय वस्तु के साथ तन्मय होने की योग्यता रखते हैं तथा कविहृदय के साथ संवाद (साम्य, एकीकरण) धारण करने वाले हैं, वे व्यक्ति ही सहृदयी हैं ।]

इन्हीं सहृदयी व्यक्तियों को 'रसिक' भी कहा जाता है। सच्चा रसिक वही है जो कवि के व्यंजित अभिप्राय को समझकर, शब्दों द्वारा, अपने हृदय की आर्द्रता का प्रगटीकरण नहीं करता वरन् जिसका रोमांचित अंग ही उसकी आनन्द-लहरी की सूचना चुपके से स्वयं दे देता है।

अतएव कवि की काव्य-सृष्टि के आनन्द का भोक्ता भी अधिकारी ही होना चाहिए।

---

[४]

काव्य : अन्य ज्ञातव्य : हिन्दी कविता का वर्गीकरण

तात्त्विक दृष्टि से काव्य का विवेचन हो चुका। इस विवेचन में काव्य की आधारभूत आत्मा (जीवित) का उल्लेख हुआ है। इसके अतिरिक्त काव्य का बाह्य-पक्ष भी है।

रस, ध्वनि आदि से समन्वित काव्य उत्कृष्ट काव्य होता है परन्तु काव्य के भी अनेक भेद हैं। इन भेदों के आधार भी स्वभावतया भिन्न हैं। संसार का समस्त ज्ञान आरम्भ में इन्द्रियों द्वारा किया जाता है अतएव पहला भेद इन्द्रियों के आधार पर है। जो सुना जाता है उसे 'श्रव्य-काव्य' और जो देखा जाता है उसे 'दृश्य-काव्य' कहते हैं।

'नाटक' को छोड़कर शेष काव्य 'श्रव्य-काव्य' कहे जाते हैं। नाटक में 'अभिनय' अंग की भी प्रधानता है इसलिए रंगमंच से उसका सम्बन्ध होने के कारण वह 'दृश्य-काव्य' कहलाता है। दृश्य-काव्य का विवेचन पृथक् किया गया है।

श्रव्य-काव्य के अनेक भेद हैं। शब्द एवं उसके अर्थ के आधार पर आचार्य मम्मट ने तीन प्रकार का काव्य माना है—

१. उत्तम-काव्य (ध्वनि)—जिसमें वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्य (प्रतीयमान) अर्थ अधिक चमत्कारी हो।

२. मध्यम-काव्य (गुणीभूत व्यंग्य)—जिसमें वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ में अधिक चमत्कार न हो। इस प्रकार वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में समान चमत्कार भी हो सकता है और एक में दूसरे से कम भी। जहाँ व्यंग्यार्थ होते हुए भी वह प्रधान नहीं होता वहाँ गौण व्यंग्यार्थ कहा जाता है। ऐसा ही काव्य गुणीभूत-व्यंग्य होता है।

३. अधम-काव्य (अलंकार या चित्रकाव्य)—जिस काव्य में शब्द-चित्र (गुण या अलंकार) और वाच्य-चित्र हो परन्तु व्यंग्य अर्थ न हो। अथवा जहाँ वाच्यार्थ ही में व्यंग्यार्थ के बिना चमत्कार हो।

प्रत्येक काव्य का उदाहरण इस प्रकार है—

१. ऊधो ! जादू तुम्हें हम जाने।

....

....

सूर-श्याम जब तुम्हें पठाये, तब नेकहु मुस्काने ॥

[गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं—'महाराज हमने आपका निर्गुण आराधना का संदेश सुन लिया अब आप मथुरा वापिस चले जाइए। पर हाँ, जाने से पहले एक बात का उत्तर दे दीजिए। जब श्रीकृष्ण ने आपको यहाँ भेजा था तो वह तनिक मुस्कराए तो नहीं थे ?]

यहाँ पर यदि 'मुस्कराए तो नहीं थे' इसका वाच्यार्थ लिया जाय तो कोई विशेष चमत्कार नहीं प्रतीत होता। परन्तु जब

इसका अर्थ यह देखते हुए, कि किसी व्यक्ति को मूर्ख बनाते समय मूर्ख बनाने वाला उसकी ओर देखकर मुस्करा देता है जिससे अन्य देखने वाले वास्तविक अभिप्राय को समझ जाते हैं परन्तु वह मूर्ख स्वयं नहीं समझ पाता—लिया जाता है, तब उद्धव को श्रीकृष्ण द्वारा मूर्ख बनाने की ध्वनि इसमें निकलती है। इस आशय के समझने से ही व्यंग्यार्थ का सौंदर्य आनन्द देने वाला होता है।

ऐसा ही काव्य 'उत्तम-काव्य' कहलाता है। सूरदासकृत भ्रमर-गीत में ध्वनि के अनेकों उदाहरण भरे पड़े हैं।

२. उन्निद्र रक्त अरविन्द लगे दिखाने,
गुंजार मंजु अलि-पुंज लगे सुनाने,
ए देख तू उदय-अद्रि लगा सुहाने,
बन्धूक-पुष्प छवि सूर्य लगा चुराने॥
—कन्हैयालाल पोद्दार

[प्रभात होने पर भी सोते रहने वाली नायिका के प्रति सखी की उक्ति है। 'सूर्य-बिम्ब द्वारा बन्धूक-पुष्प की कान्ति का चुराया जाना' वाच्यार्थ है और 'प्रभात का हो जाना' व्यंग्यार्थ है। व्यंग्यार्थ और वाच्यार्थ दोनों ही स्पष्ट हैं और किसी में कोई अधिक चमत्कार नहीं अतएव व्यंग्यार्थ गौण है और यह गुणीभूत व्यंग्य का उदाहरण है।]

३. भाल गुही गुन लाल लटें लपटी लर मोतिन की सुख दैनी।
ताहि विलोकत आरसी लै कर आरस सों इक सारस-नैनी।

'केसव' कान्ह दुरे दरसी परसी उपमा मति कौं अति पैनी।
सूरज-मंडल में ससि-मंडल मध्य धसी जनु जाहि त्रिवेनी॥

[एक सारस-समान चक्षु वाली नायिका अलस भाव से अपनी आरसी में अपने ही भाल पर गिरने वाली लाल सूत्र से बंधी काली लटें, जिनमें श्वेत मोतियों की लड़ियाँ लिपटी हुई हैं, देख रही है। यह दृश्य ऐसा प्रतीत होता है मानो सूर्य-मंडल (कान्ति-मंडल) में चन्द्र-मंडल (मुख-मंडल) और चन्द्र-मंडल में त्रिवेणी (लाल, काली, श्वेत) धँसी हुई हो।]

प्रस्तुत सवैये में उत्प्रेक्षा द्वारा वर्णित वाच्यार्थ ही चमत्कारी है अतएव चित्र-काव्य या अलंकार-काव्य का उदाहरण है।

उपरोक्त तीनों प्रकार के काव्यों के अनेक उपभेद हैं। ध्वनि-प्रसंग में उसके लक्षणा-मूला और अभिधा-मूला रूपों का वर्णन हो चुका है। कुल मिलाकर ध्वनि के ५१ भेद हैं।

इसी प्रकार गुणीभूत-व्यंग्य काव्य के भी ८ भेद हैं तथा अलंकार-काव्य के भेद भी अनेक हैं। प्रत्येक अलंकार एक-एक प्रकार का काव्य ही है।[1]

काव्य-भेद का एक अन्य आधार शैली है। इस दृष्टि से काव्य के तीन भेद हैं—पद्य, गद्य और मिश्र।

पद्य-काव्य वे कहलाते हैं जिनमें छंदों का विधान होता है। इनमें व्याकरण द्वारा मान्य सामान्य क्रम का उल्लंघन हो

१. इस प्रसंग का और अधिक सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त करने के लिए देखिए सेठ कन्हैयालाल पोद्दार का 'काव्य-कल्पद्रुम'—दो भाग.

सकता है और कवि को स्वतन्त्रता होती है कि अपने वर्ण्य को सुन्दर बनाने के लिए वह सामान्य नियमों का उल्लंघन कर सके।

गद्य-काव्यों में व्याकरण के नियमों का साधारणतया वाक्य-विन्यास में पालन किया जाता है। उपन्यास, कहानी, निबन्ध आदि भेद गद्य-काव्य के ही हैं।

मिश्र-काव्य गद्य और पद्य दोनों शैलियों का मिला हुआ रूप है। इसका पुराना नाम 'चंपू' है। नाटक-काव्य इसीके अन्तर्गत आता है।

काव्य-भेद का तीसरा आधार 'बंध' है। जिस रचना में कथा क्रम-बद्ध रूप से कही गई हो वह 'प्रबन्ध-काव्य' कहलाता है और जिसमें स्वतंत्र रूप से किसी रस, भाव या तथ्य की अभिव्यक्ति हो वह 'मुक्तक-काव्य' कहलाता है।

प्रबन्ध-काव्य

१. महाकाव्य—वह काव्य जिसमें सर्ग-बद्ध सानुबंध कथा हो, वस्तु-वर्णन हो, भाव-व्यंजना एवं रस हों, तथा संवाद हो।

सानुबंध कथा से अभिप्राय कथा-वस्तु और उसके सम्बन्ध-निर्वाह से है। कथा का विभाजन सुभीते के अनुसार सर्गों में हो जाना चाहिए। महाकाव्य में सर्गों की संख्या ८ से अधिक होनी चाहिए। प्रत्येक सर्ग में चरित-नायक की कथा का समावेश होना आवश्यक है जिससे पाठक मूल कथा से अवान्तरित कथा पर न चला जाय। कथा की धारा को सुव्यवस्थित रखने

के लिए और पात्रों की मनोवृत्ति की उत्कृष्ट अभिव्यंजना के हेतु प्रत्येक सर्ग में छंद-योजना वृत्ति की अभिव्यंजना के अनुकूल ही होना अच्छा है। हाँ, सर्ग के अन्त में अवश्य छंद-परिवर्तन हो जाता है जिससे कथा और भावों की सर्वग्राह्यता में बाधा न हो। महाकाव्य में चरित्र-चित्रण की जटिलता नहीं रहनी चाहिए अन्यथा रस-उत्पत्ति में भी जटिलता का होना स्वाभाविक हो जायगा। संभवतः प्रख्यात नायक और कथा के समावेश का निर्देश इसी उद्देश्य के कारण है।

वस्तु-वर्णन अथवा पदार्थ-वर्णन का समावेश कई कारणों से आवश्यक है। घटना-वर्णन के साथ-साथ वस्तु-वर्णन के कारण चरित्र के विकास और भावों की तीव्रता की अभिव्यंजना में बड़ी सहायता मिलती है। यह वस्तु-वर्णन विभाव की दृष्टि से रस-निष्पत्ति में भी सहायक होता है।

वस्तु-वर्णन सम्बन्धी विषयों की एक लम्बी सूची प्रत्येक आचार्य ने अपने-अपने ग्रन्थ में दे दी है। सामान्यतया इन विषयों का वर्णन प्रसंगानुकूल उपयुक्त और महत्त्वपूर्ण है—

समय—संध्या, रात्रि, प्रभात, प्रदोष, अंधकार।

ऋतु—षट् ऋतु।

पदार्थ-वर्णन—नगर, स्वर्ग, वन, समुद्र आदि।

गति अनुगत—आखेट, यज्ञ, संग्राम, यात्रा, विवाह आदि।

विशेष—अभ्युदय आदि-आदि।

प्रायः देखा जाता है कि वस्तु-वर्णन को ही कुछ कवि प्रधानता

देने लगते हैं और इस प्रकार काव्य के जीवित से पृथक् से हो जाते हैं। यह उचित नहीं है। केशव ने रामचन्द्रिका में और हरिऔध ने प्रिय-प्रवास में ऐसा ही किया है। परिणामतः दोनों काव्य उत्कृष्ट कोटि के नहीं हो सके हैं। वस्तु-वर्णन का आधिक्य काव्य को नीरस बना देता है।

रस प्रत्येक काव्य की आत्मा है अतएव उसकी परिपूर्णता उसमें होनी ही चाहिए। महाकाव्य में प्रायः एक रस की प्रधानता होती है शेष का निरूपण यथास्थान आ जाता है। ध्यान योग्य यह है कि केवल वैचित्र्यपूर्ण भाव-व्यंजना ही काव्य का उद्देश्य नहीं। भावों में उदात्त वृत्ति भी आवश्यक है जिससे प्रभाव वाह्य एवं आन्तरिक होकर सर्वांगीण हो।

संवाद कथा की गतिशीलता, चरित्र-विकास और भावों की समुचित योजना के लिए महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। केशव और तुलसी के संवाद उनके महाकाव्यों के विशेष प्राण हैं। प्रसाद और गुप्त जी के संवादों ने उनकी कामायिनी और साकेत को क्रमशः उच्च स्तर पर ला बिठाया है। संवाद यद्यपि नाटक का मूल तत्त्व है परन्तु श्रव्य काव्य में भी इसके समावेश से वातावरण में सजीवता आ जाती है और पाठक पात्रों के साथ एक विचित्र साक्षात्कार का अनुभव करने लगता है। कभी-कभी तो इन्हीं संवादों द्वारा कवि अपने युग की आत्मा को काव्य में चिरन्तन करने में सफल होता है।

राम-वनगमन के अवसर पर कर्तव्य और प्रेम का जो

अपूर्व संघर्ष तुलसीदास जी ने दिखाया है उसका श्रेय संवादों को ही है। केशव के अंगद-रावण-संवाद अथवा हनुमान-सीता-संवाद ने ही तो विभिन्न छंदों मे ओत-प्रोत रामचन्द्रिका में जीवन डाल दिया है। प्रसाद अपनी गंभीर अध्यात्मवादिता को संवादों के द्वारा ही अभिव्यक्त कर सके हैं और गुप्त जी की कैकेयी अपने इस कथन से कि 'युग-युग तक चलती रहे कठोर कहानी, रघुकुल में भी थी एक अभागिनि रानी' तथा ऊर्मिला यह कह कर—'मेरे उपवन के हरिण, आज वनचारी,
मैं बाँध न लूँगी तुम्हें, तजो भय भारी'।
अपने-अपने पश्चात्ताप एवं सात्त्विक त्याग की क्रमशः अभिव्यंजना करती है। क्या संवादों के अभाव में काव्यों के ये रमणीक स्थल संभव थे?

महाकाव्य के उपरोक्त तत्त्वों के अतिरिक्त कुछ और भी आवश्यक गुणों का होना उनमें वांछित है। उसका आरम्भ मंगलाचरण से होना चाहिए; नामकरण किसी प्रमुख पात्र अथवा घटना के आधार पर करना चाहिए—यथा 'कामायिनी', 'वैदेही-वनवास' आदि।

२. खण्ड-काव्य—महाकाव्य जैसा ही होता है परन्तु खण्ड-काव्य का कथानक इतना विस्तृत नहीं रहता जितना महाकाव्य का। इसकी रचना किसी के जीवन के एक अंश को लेकर ही की जाती है परन्तु वह अंश अपने में सम्पूर्ण होता है। संभवतः इसी विस्तार के अभाव में खण्डकाव्य को ८ सर्ग से अधिक का

नहीं होना चाहिए। शेष लक्षण अनुपात के अनुकूल महाकाव्य जैसे ही होते हैं। हिन्दी में मैथिलीशरण का काव्य जयद्रथ-वध उत्कृष्ट उदाहरण है।

३. एकार्थ-काव्य—किसी एक ही छोटे से उद्देश्य को लेकर इसकी रचना होती है। इसमें खण्डकाव्य अथवा महाकाव्य जैसी वस्तु-वर्णन की संपूर्णता नहीं होती और न वैसा कथा-विस्तार ही होता है। कथा-मोड़ कम होते हैं परन्तु संबंध-निर्वाह किसी प्रकार टूटता नहीं, जुड़ा ही दिखाई देता है। अधिकांश में कवि का लक्ष्य इस प्रकार का काव्य लिखने से कोई एक प्रसंग-वर्णन या तत्सम्बन्धी भावाभिव्यंजन ही अधिक रहता है। 'गंगावतरण', 'उद्धव-शतक' ऐसे ही काव्य हैं।

ऐसे काव्यों को 'प्रबन्ध-गीत' अथवा 'गीत-प्रबन्ध' भी कहा जा सकता है। कथात्मक लम्बी कविताएँ जिनमें किसी मार्मिक दृश्य का अंकन अथवा किसी घटना का मार्मिक वर्णन रहता है वे भी इसी कोटि में आ सकती हैं। 'वीर-पंचरत्न', 'किसान' आदि इसी प्रकार की रचनाएँ हैं।

मुक्तक—उस काव्य को कहते हैं जिसमें रस का उद्रेक करने के लिए अनुबंध की आवश्यकता नहीं होती।

१. मुक्तक—पूर्व और पर से निरपेक्ष जो एक ही पद्य में रस-चर्वण में पूर्ण सहायक हो।

फुटकर सवैये अथवा कवित्त इसके अन्तर्गत आते हैं। परन्तु आवश्यक यही है कि छन्द एक हो और अपने में सम्पूर्ण हो।

२. युग्मक—जहाँ दो छंदों में वाक्य की पूर्ति हो अर्थात् एक के स्थान पर दो छंदों से उपरोक्त गुण की पूर्ति हो।

३. संदानितक या विशेषक—जहाँ तीन छंदों में वाक्य शेष हो।

४. कलापक—जहाँ चार छंदों में ऐसा हो।

५. गीत—वे पद जिनकी रचना राग-रागिनी के अनुकूल हो। ऐसे पद 'गेय' होने के कारण ही गीत कहलाते हैं।

गीत दो प्रकार के हैं—१. लौकिक या ग्राम्य-गीत जिनमें किसी भाव या स्थिति की व्यंजना होती है तथा २. साहित्यिक गीत जिनमें व्यक्तिगत भावना की अभिव्यक्ति होती है। दोनों में अन्तर केवल भाषा और विषय के स्तर का रहता है। लौकिक-गीतों का वातावरण जन-समुदाय की भावनाओं का प्रतिनिधित्व करता है और साहित्यिक गीत शिष्ट-समुदाय अथवा किसी एक व्यक्ति की भावनाओं के प्रतीक होते हैं।

६. प्रगीत—वास्तव में तो यह वही है जो साहित्यिक गीत है परन्तु इस नाम पर पाश्चात्य प्रभाव स्पष्ट है। सुन्दर और उत्कृष्ट प्रगीत वही है जो आभ्यान्तरिक (Subjective) भावना से प्रेरित होकर लिखा गया हो।

अंग्रेजी साहित्य में कविता दो प्रकार की मानी गई है—यथार्थ-निरूपक (Objective) जो वस्तु-वर्णन से ही संबंध रखती है और दूसरा आन्तरिक (Subjective) जो उन मनोवेगों को अभिव्यंजित करती है जो कवि की अनुभूति का परिणाम हो।

प्रगीत मन की एक विशेष अवस्था (Mood) में लिखे जाते है, वे अपने में सम्पूर्ण होते हैं, लय-युक्त होते हैं परन्तु उनके लिए यह आवश्यक नहीं है कि वे राग-रागिनी में ही लिखे गए हों; वे किसी वस्तु-विशेष द्वारा उद्भूत मनोवेगों में स्वानुभूतिपूर्ण चित्र होते हैं और इस प्रकार कवि के काव्यात्मक स्वरूप के प्रतीक कहे जा सकते हैं। इनमें किसी छंद-संख्या की आवश्यकता नहीं। जब तक कवि की अनुभूति उसे अपनी भावनाओं और आवेगों को प्रगट करने की प्रेरणा देती रहती है, वह लिखता जाता है और जैसे ही स्फूर्ति मंद पड़ती है कविता भी समाप्त होती जाती है। वर्तमान हिन्दी का अधिकांश मुक्तक साहित्य 'प्रगीत' साहित्य ही है। 'प्रसाद', पन्त, महादेवी, निराला आदि की रचनाएँ प्रगीत हैं।

प्रगीतों के सम्बन्ध में एक दोष यह लगाया जाता है कि वह व्यष्टिगत होता है, समष्टिगत नहीं। कुछ अंश में यह कथन सत्य है। लेखक की अनुभूति उसकी कल्पना द्वारा स्वतंत्र रूप में प्रगट होती है परन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि कवि अपने युग और उसकी विचार-धाराओं द्वारा निर्मित वातावरण से पृथक् नहीं हो सकता। अन्त में उसके व्यक्तित्व में समष्टि का स्वरूप आ ही जाता है। रही एक ही विषय को भिन्न व्यक्तियों द्वारा भिन्न दृष्टिकोण से व्यक्त करने की बात, सो तो स्वाभाविक है अन्यथा 'मौलिकता' कहाँ से होगी ? यही कारण है कि 'ओस', 'बादल', 'आँसू', 'नदी' आदि विषयों पर अनेकों कवियों ने

लिखा है परन्तु प्रत्येक की रचना भिन्न है। परन्तु एक ही विषय पर इतने कवियों द्वारा प्रगीत की रचना विषय के समष्टि रूप की द्योतक है।

हिन्दी साहित्य में कुछ ऐसे भी काव्य निकले हैं जो उपरोक्त सूची में नहीं आते। मैथिलीशरण की 'यशोधरा' एक ऐसा ही काव्य है। उसमें कविता है, नाटकीय संवाद हैं। गीत हैं, प्रगीत हैं और गद्यकाव्य भी है। इस प्रकार की रचनाओं को 'चम्पू' कहना चाहिए। साहित्य-दर्पणकार ने लिखा है—

"गद्य-पद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते"।

—६।३३६.

[गद्य-पद्य से युक्त काव्य को चम्पू कहते हैं।]

कवि और उसकी शिक्षा

काव्य-निर्माण के तीन हेतु माने गए हैं—

"सक्ति कवित्त बनाइबे की जिहिं जन्म-नछत्र में दीनी विधातैं।
काव्य की रीति सिखी सुकवीन सों, देखी सुनी बहुलोक की बातें।
'दासजू' जामें एकत्र ये तीनि बनै कविता मनरोचक तातैं।
एक बिना न चलै रथ जैसे धुरंधर सूत कि चक्र निपातैं"॥

[१. ईश्वरप्रदत्त काव्यशक्ति: २. सुकवियों से सीखी काव्य की रीति और ३. लोक-ज्ञान।]

इन तीनों के संयोग बिना उत्तम काव्य असंभव है।

राजशेखर ने आठ प्रकार के कवियों का उल्लेख किया है—

१. रचना-कवि, २. शब्द-कवि, ३. अर्थ-कवि, ४. अलंकार-

कवि, ५. उक्ति-कवि, ६. रस-कवि ७. मार्ग-कवि और ८. शास्त्रार्थ कवि।

इन आठ प्रकार के कवियों में से दो-तीन प्रकार के गुण जिस कवि में हों वह 'सामान्य', जिसमें पाँच-छः प्रकार के हों वह 'मध्यम श्रेणी का' और जिसमें सब गुण हों वह 'महाकवि' कहलाता है। हिन्दी में 'महाकवि' बड़े सस्ते हो गए हैं क्योंकि कोई रोक-टोक किसी पर नहीं है। उपाधि देते हुए भी कोई यह नहीं देखता कि कवियों की दस अवस्थाओं[1]* के अनुसार भेदों

---

*१. काव्य-विद्या-स्नातक—जिसने विद्या और उप-विद्या का अध्ययन किया हो।

२. हृदय-कवि—जो अपनी कविता अपने हृदय में छिपाये रखे।

३. अन्यायदेशी—जो दोष-भय से अपनी कविता को दूसरे की कविता कहकर पढ़ता है।

४. सेविता—जो पुराने कवियों की उत्कृष्ट कविता की छाया पर कविता करे।

५. घटमान—मुक्तक लेखक।

६. महाकवि—जो मुक्तक और प्रबन्ध दोनों लिखे।

७. कविराज—जो सब प्रकार की भाषा, सब बंधों और सब रसों में कविता रचना करने में समर्थ हो।

८. आवेशिक—जो आवेश की स्थिति रहने तक ही लिख सके।

९. अविच्छेदी—जो इच्छा होने पर धारावाहिक रूप से लिख सके।

१०. संक्रामयिता—जो अपने मंत्र-बल से किसी कुमार या कुमारी के सिर पर सरस्वती का संक्रमण करा सके।

में से कोई भेद ऐसा है कि इसके अन्तर्गत इसका प्रभाव आ सकता हो।

काव्य-दोष

मुख्य अर्थ के ज्ञान के विघातक कारणों को दोष कहते हैं। काव्य में 'रस' तो मुख्य होता ही है परन्तु उसी रस के आश्रित वाच्य अर्थ भी मुख्य होता है। इसी प्रकार रस तथा वाच्य अर्थ दोनों के उपयोग में आने वाले शब्द आदि भी मुख्य होते हैं। अतएव इन शब्दों और अर्थों में भी दोष होता है।

इस प्रकार दोष तीन प्रकार के होते हैं—

१. रस-दोष, २. शब्द-दोष और ३. अर्थ-दोष।

पद-दोष, शब्द-दोष

काव्य-प्रकाशकार ने १६ 'पद' या 'शब्द' दोष माने हैं।

१. श्रुतिकटु—कानों को कठोर लगने वाले पदों में यह दोष होता है—प्रायः यह दोष शृङ्गार आदि कोमल रसों में ही पाया जाता है।

(अ) "कार्तार्थी नव होहुँगी, मिलिहैं जब प्रिय आय"

—पोद्दार

(आ) "देखत कछु कौतिक इतै, देखौ नेकु विचारि।
कब को इकटक डटि रहै, टटिया अंगुरिन डारि"॥

—बिहारी

उपरोक्त उदाहरणों में 'कार्तार्थी' एवं बिहारी के दोहे के दूसरे दल में 'टवर्ग' के आने से शब्दों में यह दोष आगया है।

वीर और रौद्र रसों में इन वर्णों के प्रयोग से दोष नहीं आता वरन् ये वर्ण उनके सौंदर्य में वृद्धि का कारण बन जाते हैं।

२. च्युत-संस्कृति—व्याकरण के विरुद्ध पद का प्रयोग—

(अ) "फूलों की लावण्यता देती है आनन्द"।

(आ) "छंद को प्रबंध त्यों ही व्यंग नायिकादि भेद,
उद्दीपन भाव, अनुभाव पति वामा के;
भाव संचारी असथाई रस भूपण हू,
दूपण अदूपण जो कविता ललामा के;
काव्य को विचार 'भानु' लोक उक्ति सार कोप,
काव्य-परभाकर में साजि काव्य सामा के;
कोविद कवीसन को कृष्ण मानि भेट देत,
अंगीकार कीजे चारि चांवर सुदामा के"॥

इन उदाहरणों में 'लावण्यता' और 'असथाई' दोष-युक्त हैं। भाववाचक संज्ञा में 'लावण्य' रूप होना चाहिए और व्रज-भापा के अनुसार 'असथाई' का रूप 'थायी' होना उपयुक्त है।

३. अप्रयुक्त—अप्रचलित प्रयोग होना।

(अ) "पुत्र जन्म उत्सव समय स्पर्स कीन्ह बहु गाय"।

(आ) "नीरवता सी शिला चरण से,
टकराता फिरता पवमान"।

—प्रसाद

'स्पर्स' का अर्थ 'दान' होते हुए भी इस अर्थ में वह अप्रचलित है। इसी प्रकार वायु के लिए 'पवमान' भी है।

४. असमर्थ—अभीष्ट अर्थ की प्रतीति न होना।

"कुंज हनन कामिनि करन" में 'हनन' का अर्थ 'जाना है' इस अर्थ में किया गया है। गमन का पर्याय होते हुए भी इसमें गमन अर्थ के बोध का सामर्थ्य नहीं है।

५. निहितार्थ—दो अर्थों वाले शब्द का अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयोग।

"यमुना-शंबर विमल सों, धोवत कलिमल कोस"।

इसमें 'शंबर' 'जल' का पर्याय है और उसका अर्थ 'शंबर नाम का 'असुर' भी होता है। साहित्य में इसका प्रयोग दूसरे अर्थ में प्रसिद्ध है परन्तु पहले अर्थ में प्रयुक्त होने के कारण यहाँ निहितार्थ-दोष है।

अप्रयुक्त और निहितार्थ में एक भेद है। प्रथम का प्रयोग 'एकार्थी' शब्द में होता है और द्वितीय का प्रयोग 'अनेकार्थी' में होता है।

६. अनुचितार्थ—जहाँ अभीष्ट अर्थ का तिरस्कार करने वाला प्रयोग किया जाय। अथवा 'समय' को देखकर उसके अनुकूल प्रयोग न हो।

(अ) "ह्वै कै पसु रन-यज्ञ में, अमर होहिं जग सूर",
(आ) "नांगो ह्वै दह कूदि कै, गहि लायो हरि व्याल"।
(इ) "जिहिं जावक अंखियाँ रँगे, दई नखक्षत गात।
रे पिय ! शठ क्यों हठ करै, वाही पै किन जात"॥

उपरोक्त उदाहरणों में 'पसु' का प्रयोग अनुचितार्थ है।

शूरवीरों को 'पसु' कह कर उनकी कायरता प्रतीत होती है न कि शूरत्व। 'नांगो' में भी श्रीकृष्ण का अनादर प्रतीत होता है। 'रँगे' और 'दई' के स्थान पर 'रँगी' और 'दयो' होना चाहिए। इसी प्रकार 'शठ' के साथ 'पिय' उचित नहीं है। जो 'प्रिय' है वह 'शठ' कैसे हो सकता है ?

७. निरर्थक—पादपूर्ति के लिए अनावश्यक शब्द में यह दोष होता है।

"वचन की चातुरी देहु तथा तुम ग्यान" में 'तथा' निरर्थक है।

८. अवाचक—जिस वांछित अर्थ के लिए जिस शब्द का प्रयोग किया जाय, उस शब्द का, उस वांछित अर्थ का वाचक न होना—

"तन तेरे कंटकित कंट किन लागे हैं" में 'कंट' अवाचक है। 'कंटक' होना चाहिए।

९. अश्लील—लज्जा, घृणा, अमंगल-व्यंजक शब्द में यह दोष होता है। उदाहरण स्पष्ट है।

"चोरत हैं पर-उक्ति कौं जे कवि ह्वै स्वच्छन्द;
वे उत्सर्ग रु वमन को उपभोगत मतिमंद"॥

इस दोहे में 'उत्सर्ग' (मल) तथा 'वमन' (कै) पद घृणा-व्यंजक है।

१०. सन्दिग्ध—ऐसे शब्द का प्रयोग जिससे वांछित और अवांछित दोनों अर्थ प्रतीत हों, अर्थ निश्चित न हो सके।

"वंद्या पर कीजिए कृपा" में अर्थ अनिश्चित है। पता नहीं वंद्या का क्या अर्थ लिया गया है—वंदनीया अथवा बंदी (क़ैद की गई)।

११. अप्रतीत—जब एक शब्द किसी शास्त्र-विशेष में प्रसिद्ध होने पर भी लोक-व्यवहार में प्रयुक्त न होता हो।

"हनत कुंभ कुंभीन के कुलज वीर रनधीर।
नभ-मणि अथ करत ज्यों मानहु रुधिर उदार"॥
—कुमारमणि शास्त्री

यहाँ 'रुधिर' (मंगल ग्रह) शब्द का प्रयोग लोक-व्यवहार के विपरीत है क्योंकि इस अर्थ में इसका प्रयोग ज्योतिष-शास्त्र में ही होता है।

१२. ग्राम्यत्व—ग्रामजनों-गँवारों-की बोली में बोले जाने वाले शब्द का प्रयोग।

"परे तलबेली तन मन में छबीली राग,
छिति पर छिनक, छिनक पाय खाट में।"

यहाँ खाट (पलंग या पर्य्यंक) शब्द गँवारू है।
'गाल', 'कटि' आदि शब्द भी ग्राम्य बताये गए हैं।

१३. नेयार्थ—असंगत लक्षणावृत्ति सूचक।

"तेरे मुख ने चन्द्र के दई लगाय चपेट" में 'चपेट' मुख्य अर्थ का बाधक है। 'तेरे मुख की कान्ति चन्द्रमा से अधिक है' यह अर्थ लक्षणा से निकलता है परन्तु यहाँ न रूढ़ि लक्षणा है और न प्रयोजनवती अतएव नेयार्थ दोष है।

१४. क्लिष्टत्व—स्पष्ट है।

१५. अविमृष्ट-विधेयांश—विधेय अर्थात् अभीष्ट अर्थ के अंश का प्रधानता से प्रतीत न होना, उसका गौण हो जाना।

"मैं रामानुज हौं अरे! गरज डरावत काहि" में, रामानुज (राम के भाई=लक्ष्मण) का अर्थ उत्कर्षपूर्ण नहीं हो पाता। "राम का भाई हूँ" में 'राम' पर जो ज़ोर है वह नहीं आ पाया क्योंकि षष्ठी विभक्ति के चिन्ह-'का' लोप हो गया है। यह दोष प्रायः समास बनाने के कारण होता है।

"दीपति है निसि द्यौस यह, वाकी निसि ही जोति।
राम! तिहारी कित्ति सों, असम चन्द्र-दुति होति"।

इस दोहे में 'असम' में वह व्यंजना नहीं है जो 'समान नहीं होती' में है। अ + सम = असम में समास के कारण यह दोष है।

१६. विरुद्ध-मतिकारी—ऐसे शब्दों का प्रयोग जिनके द्वारा अभीष्ट अर्थ से विरुद्ध अर्थ की प्रतीति हो।

"सरद-चन्द्र-सम विमल हो सदा उदार चरित्र।
गुन-गन कहे न जातु हैं, आप अकारज मित्र"।

यहाँ 'अकारज-मित्र' शब्द का वास्तविक अर्थ लिया गया है 'किसी कार्य के विना अर्थात् स्वार्थ रहित मित्र' परन्तु प्रतीत होता है उसका अर्थ 'अकार्य के मित्र' अर्थात् 'अयोग्य-मित्र' अतएव अकारज शब्द अभीष्ट अर्थ के विरुद्ध मति उत्पन्न करता है।

वाक्य-दोष

ये दोष वाक्यों में होते हैं। पद-दोषों में से च्युतसंस्कार

असमर्थ और निरर्थक ये तीन दोष वाक्य-दोष भी कहे गए हैं। इन तीन के अतिरिक्त निम्नलिखित अन्य दोष वाक्य-दोष कहलाते हैं—

१. प्रतिकूलवर्ण २. न्यूनपदत्व ३. अधिकपदत्व ४. कथित-पदत्व ५. पतत्प्रकर्ष (Antithesis) ६. समाप्तपुनरात्त ७. अर्थान्तरैकवाचत्व ८. अभवन्मतसम्बन्धत्व ९. अनभिहितवाच्य १०, ११. अस्थानस्थ पदत्व एवं समास १२. संकीर्ण १३. गर्भित (Parenthesis) १४. प्रसिद्धित्याग १५. भग्नप्रक्रमत्व १६. अक्रमत्व १७. अमतपरार्थता आदि।

इन दोषों के विवरण के लिए काव्य-प्रकाश का सातवाँ समुल्लास अथवा सेठ कन्हैयालाल पोद्दारकृत काव्य-कल्पद्रुम भाग १ का सप्तम स्तवक देखना चाहिए। हिन्दी के प्रसिद्ध कवि और आचार्य भिखारीदास जी ने भी अपने ग्रन्थ काव्य-निर्णय के २३ वें समुल्लास में इनकी चर्चा की है।

अर्थ-दोष

अर्थ-दोषों की संख्या काव्य-प्रकाशकार ने २३ दी है—

१. अपुष्ट २. कष्ट ३. व्याहत ४. पुनरुक्त ५. दुष्क्रम ६. ग्राम्य ७. सन्दिग्ध ८. निर्हेतु ९. प्रसिद्धि-विरुद्ध १०. विद्या-विरुद्ध ११. अनवीकृत १२. सनियम-परिवृत्त १३. अनियम-परिवृत्त १४. विशेष-परिवृत्त १५. अविशेष-परिवृत्त १६. साकाङ्क्ष १७. अपदयुक्त १८. सहचरभिन्न १९. प्रकाशित-विरुद्ध २०. विध्ययुक्त २१. अनुवादायुक्त २२. त्यक्त पुनः स्वीकृत २३. अश्लील।

कुछ स्थानों पर ये दोष, दोष न रहकर गुण बन जाते हैं और कुछ ऐसे होते हैं जो विशेष स्थानों पर चाहे गुण न बनें परन्तु दोष नहीं रहते।

ऐसे कुछ स्थल निम्नलिखित हैं—

१. लोकप्रसिद्ध अर्थ में 'निर्हेतुक' दोष नहीं होता।

२. श्लेष और यमक आदि अलंकारों में 'अप्रयुक्त' और 'निहितार्थ' दोष नहीं माने जाते।

३. सुरतारंभ-गोष्ठी में व्रीड़ा-व्यंजक अश्लील, वैराग्य की कथाओं में वीभत्स-व्यंजक अश्लील और भावि-वर्णन में अमंगलव्यंजक अश्लील दोष नहीं माना जाता प्रत्युत गुण समझा जाता है।

४. व्याजस्तुति अलंकार में 'सन्दिग्ध' दोष भी गुण समझा जाता है।

५. जहाँ वक्ता और श्रोता दोनों वर्णनीय शास्त्र-विषय के ज्ञाता होते हैं वहाँ 'अप्रतीत' दोष नहीं होता।

६. नीच वक्ता के शब्दों में 'ग्राम्य' दोष नहीं माना जाता।

७. अध्याहार के कारण जहाँ अर्थ की शीघ्र प्रतीति हो सकती हो वहाँ 'न्यून-पदत्व' दोष नहीं कहा जाता।

८. लाटानुप्रास और कारणमाला अलंकारों में तथा अर्थान्तरसंक्रमित ध्वनि में, 'कथितपद' दोष न होकर गुण हो जाता है।

रस-दोष

शब्द और वाक्य-गत दोषों की तरह रस-दोष भी होते हैं। रस एवं तत्सम्बन्धी तत्त्वों का विवेचन तथा उल्लेख पहले हो चुका है। यहाँ पर केवल रस-दोषों का वर्णन किया जाता है।

१..रस, स्थायी-भाव या व्यभिचारी भावों का 'स्व-शब्द' द्वारा व्यंजन दोष है—

"मानों तरवार वीर-रस ही उधारी है" में वीर-रस का वर्णन स्वयं 'वीर' शब्द के प्रयोग के कारण दोष हो गया है।

"उपगत है चहुँ ओर छवि मानहु रस-शृङ्गार" में भी शृङ्गार की व्यंजना में 'शृङ्गार' का प्रयोग 'रस' के साथ दोष-युक्त है।

इसी प्रकार स्थायी-भाव अथवा व्यभिचारी-भाव में भी यह होता है।

२. विभाव एवं अनुभावों की कष्ट-कल्पना के कारण जहाँ रस की प्रतीति होती है वहाँ यह दोष होता है—

"चहति न रति, यह विगत मति चितहु न कित ठहराय ;
विषम दसा याकी अहो, कीजै कहा उपाय"।

इस पद में 'रति न चहति' द्वारा यह व्यंजित किया गया है कि नायिका की वियोग-अवस्था का वर्णन है। परन्तु रति न चाहना केवल वियोग ही में तो नहीं होता। यह अनुभाव तो करुण और भयानक एवं वीभत्स में भी संभव है। अतएव

यहाँ वियोग-शृङ्गार के विभाव–विरहिणी नायिका–की प्रतीति कष्ट-कल्पना से होती है।

३. जहाँ वर्णनीय रस के विरोधी रस की सामग्री (तत्त्वों) का वर्णन होता है वहाँ दोष समझा जाता है। इस सम्बन्ध में रसों का पारस्परिक विरोध इस प्रकार है—

(अ) शृङ्गार के विरोधी		करुण, वीभत्स, रौद्र, वीर, भयानक और शान्त।
(आ) हास्य	,,	भयानक और करुण।
(इ) करुण	,,	हास्य और शृङ्गार।
(ई) रौद्र	,,	हास्य, शृङ्गार और भयानक।
(उ) भयानक	,,	हास्य, शृङ्गार, वीर, रौद्र, शान्त।
(ऊ) शान्त	,,	रौद्र, शृङ्गार, हास्य, भयानक और वीर।
(ए) वीभत्स	,,	शृङ्गार।
(ऐ) वीर	,,	भयानक और शान्त।

यह विरोध तीन प्रकार का होता है—

१. जब दो रसों का आलम्बन एक हो यथा वीर और शृङ्गार का।

२. जब दो रसों का आश्रय एक हो यथा वीर और भयानक।

३. दो विरोधी रसों के बीच में किसी तीसरे अविरोधी रस

की व्यंजना न होने के कारण यथा शान्त का शृङ्गार एवं वीभत्स के साथ।

४. रस की पुनर्दीप्ति—किसी रस का परिपाक हो जाने पर फिर उसी रस का पुनः वर्णन।

५. अकाण्ड-प्रथन—असमय में रस का वर्णन।

६. अकाण्ड-छेदन—असमय में रस का भंग कर देना।

७. अंगभूत रस की अत्यन्त विस्मृति—जिस प्रबंध में जिस रस का प्रधानता से वर्णन हो, वहाँ उस अप्रधान रस का विस्तृत वर्णन करना।

८. अंगी का अननुसन्धान—रस के आलम्बन और आश्रय का बीच-बीच में अनुसन्धान न होना, अथवा आवश्यक प्रसंग में उन्हें भूल जाना।

[सर्गवद्धता और सम्बन्ध-निर्वाह से इसका विशेप संबंध है।]

९. प्रकृति-विपर्यय—नायक की प्रकृति के अनुसार उसका वर्णन न होना दोप है। नायक तीन प्रकार के होते हैं—धीरोदात्त धीरोद्धत, धीरललित और धीर-प्रशान्त।

१०. अनंग-वर्णन—प्रकरणगत रस में जो सहायक न हों ऐसे अंगों का वर्णन करना दोप है।

यह दोप प्रायः निम्न कारणों से होते हैं—

१. देश और काल के प्रतिकूल वर्णन से यथा स्वर्ग में वृद्धता

अथवा मर्त्य में अमृतपान; शीतकाल में जल-विहार और ग्रीष्म में अग्नि-सेवन।

२. वर्ण-विरुद्ध वर्णन से—यथा ब्राह्मण का शिकार खेलना क्षत्रिय का दान लेना आदि।

३. आश्रम-विरुद्ध वर्णन से—ब्रह्मचारी और संन्यासी का ताम्बूल-भक्षण।

४. आचरण-स्थिति-विरुद्ध वर्णन से—धनाढ्य का दरिद्र जैसा और दरिद्र का धनाढ्य जैसा आचरण यदि वर्णित किया जाय।

इन सब दोषों का मनोवैज्ञानिक कारण प्रत्येक वस्तु का औचित्य है। जहाँ वर्णन में अनौचित्य होगा, अस्वाभाविकता होगी वहाँ वह सत्य के प्रदर्शन से वंचित रहेगा और इस प्रकार उसमें 'श्रेय' का अभाव होगा। श्रेय के अभाव में साहित्य का यह मुख्य तत्त्व उससे पृथक् हो जाएगा। ऐसे वर्णन का प्रभाव स्वभावतः निकृष्ट होगा और काव्य के 'आनन्द-लक्ष्य' के विपरीत रहेगा।

यही कारण है कि 'काव्य' की परिभाषा में विधेयात्मक (Positive) एवं निषेधात्मक (Negative) पक्षों का समावेश करते हुए कहा गया है—

"काव्य वह है जो गुणों से युक्त हो और दोषों से मुक्त हो।"

हिन्दी-कविता का वर्गीकरण

हिन्दी-कविता का वर्गीकरण अनेक आधारों पर किया जा सकता है—

(अ) विषय की दृष्टि से—

१. योगपरक संतवाणियाँ जिनमें नाथ-पंथ, कबीर-पंथ आदि सन्तों की वाणियाँ सम्मिलित हैं।

२. प्रेमपरक रहस्य काव्य—जिनमें जायसी और उनके पूर्व-वर्ती एवं पर-वर्ती कवियों की रचनाएँ आती हैं।

३. वीर-काव्य—जिनमें राजाओं और दैवी-मानवों या शूरवीरों की गाथाओं का उत्तेजनापूर्ण वर्णन है। पृथ्वीराज-रासो आल्ह-खण्ड आदि ग्रन्थ इसी वर्ग के हैं।

४. भक्ति-काव्य—जिनमें साकार भगवान् की लीलाओं का वर्णन और उनकी उपासना वर्णित है। इस वर्ग को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—रामचरित-काव्य और कृष्ण-चरित काव्य।

५. रीति-काव्य—जिनमें अधिकांश रूप से अलंकार एवं रस का वर्णन है। नायक-नायिका भेद इसीके अन्तर्गत हैं।

६. नीतिपरक काव्य—जिनमें सांसारिक अनुभव और सूक्तियाँ मिलती हैं। रहीम, वृन्द, गिरधर आदि इसी वर्ग में आते हैं।

७. भाव-परक काव्य—जिसमें आध्यान्तरित (Subjective) कविता की प्रधानता है। वर्तमानकालीन अनेक कवियों की रचनाएँ—प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी—इसीमें आयेंगी।

८. प्रगतिशील काव्य—जो पश्चिमी विचारधाराओं—समाज-वाद, साम्यवाद, पूँजीवाद, लोकतंत्रवाद आदि—से प्रभावित हैं।

(६. राष्ट्रीयता-परककाव्य—जिनमें राष्ट्र के उत्थान, विकास, बलिदान, देश-प्रेम आदि विषयों का मार्मिक वर्णन है।

(आ) शैली की दृष्टि से—

१. प्रबन्ध-काव्य—इनमें महाकाव्य, खण्ड-काव्य और गीत-काव्य सम्मिलित हैं।

२. मुक्तक काव्य—इनमें गीत और प्रगीत सम्मिलित हैं।

३. चम्पू—जो गद्य और पद्य का मिश्रण हैं।

(इ) भाषा की दृष्टि से—

१. ब्रजभाषा-काव्य

२. अवधीभाषा-काव्य

३. खड़ीबोली-काव्य

४. अन्य जनपदीय—भाषा काव्य—वे काव्य जिनमें हिन्दी की प्रधानता होते हुए भी स्थानीय भाषा का रंग पर्याप्त है।

(ई) किसी जाति या वर्ग विशेष की दृष्टि से—

१. चारणों की कविता।

२. भाटों की कविता।

३. राजवंशजों की कविता।

४. राजाश्रितों की कविता।

अन्य दृष्टिकोणों से भी कविता का विभाजन संभव है परन्तु कविता के मूलतत्त्वों पर इस विभाजन से कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अच्छाई और बुराई वर्गीकरण पर निर्भर नहीं क्योंकि ये तो कविता के आदि उपकरण हैं। वर्गीकरण तो

केवल एक कृत्रिम श्रेणी-व्यवस्था है जो विश्लेषण प्रवृत्ति का परिणाम है और जिसके द्वारा काव्य का अध्ययन सुगमता से हो सकता है।

अतएव कविता का रसास्वादन करने के लिए उन सभी तत्त्वों का ज्ञान आवश्यक है जिनका विवेचन पिछले अध्यायों और प्रसंगों में हो चुका है।

काव्य-शास्त्र और हिन्दी-कवि

काव्य-शास्त्र के सम्बन्ध में हिन्दी-लेखकों ने पर्याप्त सामग्री प्रस्तुत की है। जिसे हिन्दी साहित्य के विकास में 'रीति-काल' कहा गया है, वह तो विशेष रूप से इस प्रसंग-चर्चा का स्वर्ण-युग था। रीतिकाल में अलंकार, रस, नायक-नायिका भेद आदि विषयों पर जितने ग्रन्थ लिखे गए उस मात्रा में अन्य साहित्यिक प्रकरणों पर वे दुर्लभ हैं।

काव्य-शास्त्र पर लिखने वाले सर्वप्रथम आचार्यों में केशवदास जी का नाम आता है। केशव ने तीन ग्रन्थ इस विषय पर लिखे हैं—

१. कवि-प्रिया—यह अलंकार-प्रधान ग्रन्थ है। अतएव इसमें अलंकारों का ही प्रधानतः वर्णन है। परन्तु केशव का दृष्टिकोण 'अलंकार' के सम्बन्ध में साधारणतया प्रचलित दृष्टिकोण से भिन्न है। उत्तम काव्य में जो कुछ भी वर्ण्य है वह सब 'अलंकार' या उसका आभूषण है। केशव केवल शब्द और

अर्थालंकारों को ही अलंकार नहीं मानते। कवि बनने के लिए, काव्य की मर्यादा को अक्षुण्ण रखने के लिए जो कुछ आवश्यक है उसकी जानकारी कवि का अलंकार है। अपनी पुस्तक के चौथे प्रभाव में केशव ने इन सबका बड़ा सांगोपांग वर्णन किया है। उन्होंने 'कविता के स्वरूप' की कल्पना 'स्त्रीरूप' में की है और अपनी कवि-प्रिया के १६ भावों को उसके १६ शृंगार माना है।

"सुवरण जटित पदारथनि, भूपण भूपित मान।
कवि-प्रिया है कवि प्रिया, कवि की जीवन प्रान॥
'केशव' सोरह भाव शुभ, सुवरन मय सुकुमार।
कवि-प्रिया के जानिए, यह सोरह शृंगार॥"

कविता के विपय में कवि केशव यह मानते थे कि—

"राजत रंच न दोप युत, कविता, वनिता, मित्त"

अर्थात् काव्य 'दोप-रहित' होना चाहिए। उनकी यह परिभापा स्वयं काव्यप्रकाश-लेखक की उस सम्मति का रूपान्तर है जिसका उल्लेख ऊपर पहले प्रसंग में आ चुका है। कवि-साधना का वर्णन करते हुए केशव ने लिखा है—

"चरण धरत चिंता करत, नींद न भावत शोर।
सुवरण को सोधत फिरत, कवि व्यभिचारी चोर॥"

कवि की वास्तविक साधना यही है कि वह अपनी कविता का एक-एक चरण चिंतन करने के पश्चात् लिखता है। अपनी धुन में न उसे शिथिलता (नींद) ही अच्छी लगती है और न

बेसुरे स्वर (शोर)। उसका कवि सुन्दर और मधुर वर्णों को सदैव ढूँढता रहता है। अतएव कवि बनने के लिए चिंतन, उत्साह या ओज, स्वर-साधन और सुन्दर वर्णावली पर पूर्ण अधिकार की आवश्यकता है।

आजकल की विचारधारा के अनुसार काव्य का सीमा-क्षेत्र कुछ भी हो सकता है। साधारण पदार्थ से लेकर सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाव का चित्रण कवि अपने काव्य में करने के लिए स्वतंत्र है। केशव ने भी इसी प्रकार का विस्तार माना है। भेद इतना ही है कि ऐसा न कहकर उन्होंने अपने विवरण में अनेक पदार्थों के नाम गिना दिए हैं और उनका वर्गीकरण कर दिया है। यह वर्गीकरण वर्ण्य के रूप, गुण, गति, प्रभाव तथा शक्ति के आधार पर किया गया है।

वर्ण्य विषय सम्बन्धी तालिका के अतिरिक्त केशव ने 'भूमि-भूषण' और 'राज्यश्रीभूषण' नाम के दो अलंकार और माने हैं—"देश[१], नगर[२], वन[३], बाग[४], गिरि[५], आश्रम[६], सरिता[७], ताल[८]। रवि[९], शशि[१०], सागर[११], भूमि के भूषण ऋतु[१२] सब काल"।

उपरोक्त कथन में उन्होंने भूमि के १२ भूषणों की व्याख्या में अनेक प्रसंगों का उल्लेख किया है। इसी प्रकार राज्यश्रीभूषण भी १७ हैं। *

---

* विशेष देखिए साहित्य-संदेश, अप्रैल १९४७ में "आचार्य केशवदास और उनका काव्य-सम्बन्धी मापदण्ड" ले०—श्री सोमनाथ गुप्त

ये सब केशव के 'सामान्य अलंकार' हैं। जिन्हें 'काव्यालंकार' कहा जाता है उन्हें केशव ने 'विशिष्ट-अलंकार' की संज्ञा दी है।

अलंकार-सम्बन्धी यह व्याख्या केशव की अपूर्व मौलिकता का स्वतः प्रमाण है। उनकी कवि-प्रिया के प्रथम ८ प्रभाव उन्हीं की कल्पना से लिखे गए हैं। नवें प्रभाव से १५वें तक उन्होंने दण्डी और राजानक रुय्यक के ग्रंथों से सहायता ली है। १६वें प्रभाव में वह कुछ अंश तक मौलिक हैं और कुछ में अन्य संस्कृत आचार्यों के ऋणी।

इसी प्रकार 'रसिक-प्रिया' में केशव ने रस, नायक-नायिका-भेद एवं रस-दोष का सुन्दर वर्णन किया है। उनका पांडित्य-पूर्ण विवेचन श्लाघ्य है। पहले सिद्धान्त-वर्णन और उसके बाद उदाहरण—यही क्रम केशव ने अपनाया है। जहाँ अधिक समझाने की आवश्यकता पड़ी है वहाँ विषय को स्पष्ट भी किया है। रसिक-प्रिया के अवलोकन और अध्ययन से यह सत्य प्रगट हो जायगा।

हिन्दी का परम सौभाग्य था कि उसे आदि ही में केशव जैसा व्यक्ति मिला जिसने काव्य-शास्त्र की विवेचना को सस्ता न बना कर पर्याप्त-मात्रा में गंभीर बना दिया।

केशव के पश्चात् अनेकों कवियों ने काव्य-शास्त्र और उससे सम्बन्धित विषयों के पृथक्-पृथक् अंगों पर लिखा परन्तु इनमें से देव, मतिराम, पद्माकर और भिखारीदास प्रधान हैं।

देव ने रस-सम्बन्धी लक्षणों के अनेकों नवीन और सुन्दर

उदाहरण साहित्य में प्रस्तुत किए। अपने *भाव-विलास* और *भवानी-विलास* में उन्होंने अलंकारों के वर्णन के साथ-साथ नायक-नायिका भेद भी लिखा है और इन्हीं प्रसंगों में रस के उदाहरण भी आगए हैं। कविवर मतिराम का ललित-ललाम और रसराज अपने-अपने विषय के उत्तम प्रतिनिधि ग्रन्थ हैं। पद्माकर का जगद्विनोद सरल और स्पष्ट भाषा में नायक-नायिका-भेद का उत्तमोत्तम ग्रन्थ है। भिखारीदास ने काव्य-शास्त्र पर पर्याप्त मात्रा में लिखा है। छंद, अलंकार, ध्वनि, रस आदि सभी अंगों पर उन्होंने अपने ग्रन्थों में प्रकाश डाला है। काव्य-निर्णय हिन्दी काव्य-शास्त्र पर भिखारीदास जी का अद्भुत ग्रन्थ है। 'शृङ्गार-निर्णय' में उन्होंने शृङ्गार-रस के तत्त्वों को लेकर सब की उदाहरण सहित सुन्दर योजना की है।

आधुनिक काल में सेठ कन्हैयालाल पोद्दार ने काव्य-कल्पद्रुम लिखकर काव्य-शास्त्र का विषय अच्छी तरह स्पष्ट किया है। उनके उदाहरण नितान्त मौलिक तो नहीं हैं, अधिकांश में वे संस्कृत आचार्यों द्वारा दिए गए संस्कृत उदाहरणों का हिन्दी रूपान्तर हैं परन्तु जहाँ ऐसा संभव नहीं हो सका है, या जहाँ उन्होंने उचित समझा है अपनी कविता द्वारा लक्षण को स्पष्ट कर दिया है। व्याख्या की भाषा का माध्यम गद्य होने के कारण काव्य-कल्पद्रुम वर्तमान युग के पाठक के लिए अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक बोधगम्य है।

काव्य-शास्त्र के सम्बन्ध में हिन्दी-कवियों की एक मौलिक

देन है। जहाँ उन्होंने संस्कृत साहित्य-शास्त्र में गृहीत अलंकारों का सूक्ष्म विस्तार किया है वहाँ नायक-नायिका-भेद की विवेचना में विशिष्ट मनोविज्ञान कुशलता का भरपूर परिचय भी दिया है। यह प्रसंग 'रस' का अंग है परन्तु हिन्दी-लेखकों ने उसे मानवी भावों के अध्ययन द्वारा संस्कृत की अपेक्षा अधिक ऊँचा उठा दिया है।

काव्य-विधान के सम्बन्ध में एक बड़ा महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि हिन्दी-कवियों ने उसका कहाँ तक पालन किया ?

जहाँ तक काव्य के जीवित का प्रश्न है हिन्दी में प्रायः दो ही मत हैं—अलंकार-सम्प्रदाय को प्रधान मानने वालों का मत और रस-सम्प्रदाय को प्रधान मानने वालों का मत। ऐसे लेखकों में जिन्होंने अलंकार को काव्य में प्रधानता दी है केशव प्रमुख हैं। उनकी रामचन्द्रिका विविध छन्दों और अनेक अलंकारों से युक्त सुन्दर महाकाव्य है। कविता में विविध छन्दों का बंधन और उत्कृष्ट कोटि की अलंकार-योजना से रामचन्द्रिका ओत-प्रोत है। कुछ आलोचकों ने इसी आधार पर केशव को 'हृदयहीन' ठहराया है जो उचित नहीं। वास्तव में केशव ने रामचन्द्रिका-सम्बन्धी अपने उद्देश्य को आरंभ में ही प्रगट कर दिया है।

अलंकार की दृष्टि से जायसी, सूर, तुलसी और आधुनिक काल के हरिश्चन्द्र, प्रसाद, पन्त, निराला, महादेवी आदि कवियों को पूर्ण सफलता मिली है। इनकी अलंकार-योजना स्वाभाविक है और इसीलिए प्रभावोत्पादक। जब कभी

आधुनिक कवि अतिसूक्ष्म का वर्णन स्थूल के आधार पर करने लगा है अथवा स्थूल के उपमान में उसने अति सूक्ष्म का उपयोग किया है, वहाँ उसका अलंकार अस्पष्ट हो गया है। अर्थ में भी इसी कारण अस्पष्टता आ गई है। 'निराला' की 'गीतिका' के अनेक अंश ऐसी ही दुरूहता से भरे पड़े हैं। अन्यथा, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, विशेषण-विपर्यय एवं Personification में उन्हें पूरी सफलता मिली है। अपनी आत्मानुभूतियों को अलंकारों की सहायता से ये कवि व्यक्त कर सके हैं। उनका प्रगीत-काव्य स्वाभाविक अलंकार योजना से ही सुसज्जित हुआ है।

प्रबन्ध काव्य के दोनों रूपों—महाकाव्य और खण्डकाव्य में काव्य-शास्त्र के नियमों का निर्वाह किया गया है। रस और उससे सम्बन्धित सभी अवयव यथास्थान प्रयोग में आए हैं।

तुलसी के 'राम-चरित-मानस' और 'प्रसाद' जी की 'कामायिनी' में रूपक अलंकार और रस का सुन्दर समन्वय है। रामचरित रूपी मानसरोवर में स्नान करने के लिए सात सोपानों की व्यंजना बड़ी सुन्दर रीति से की गई है और इस प्रकार मन (मानस) में उत्पन्न होने वाली विभिन्न लहरियों का प्रदर्शन सुगम और रुचिकर हो सका है। कामायिनी में चिन्ता, आशा, वासना, काम, संघर्ष, आनन्द आदि मनोवेगों के वर्णन केवल वर्णन-मात्र नहीं। ये तो सम्पूर्ण मानवी मनोवेगों का एक मनोवैज्ञानिक अध्ययन है। यहीं पटुता से प्रसाद जी ने साहित्य, दर्शन, मनोविज्ञान, धर्म आदि विषयों की विभिन्न धाराओं

को समवेत किया है।

संक्षेप में काव्य-शास्त्र के दो रूप हैं—भाव-पक्ष और कला-पक्ष। दोनों दृष्टियों से हिन्दी के कवियों को आशातीत सफलता मिली है। यह विशेषता हिन्दी-साहित्य के किसी एक युग के साहित्य में ही दिखाई नहीं देती वरन् सभी युगों में—वीर-गाथा-काल, भक्ति-काल, रीति-काल और आधुनिक काल—इस सफलता के दर्शन होते हैं।

हिन्दी-साहित्य एक विशाल सागर है। उसमें रत्न भी हैं, घोंघे भी। जिसे जो चाहिए वह मिल जायेगा।

[५]

नाटक : तत्त्व और सिद्धान्त

आधुनिक हिन्दी-साहित्य में प्रचलित 'नाटक' शब्द अंग्रेजी के Drama (ड्रामा) का रूपान्तर या पर्याय-वाची है। संस्कृत में ड्रामा का पर्याय 'रूपक' है और 'नाटक' रूपक का एक भेद है।

जब किसी वस्तु में दूसरी वस्तु के रूप का आरोपण किया जाता है तो उस आरोपित वस्तु का नाम 'रूपक' होता है। 'नाटक' को रूपक की संज्ञा इसीलिए दी गई है कि उसमें अभिनेता किसी अन्य पात्र के रूप का आरोपण अपने में करता है और दर्शकों के सामने वही वेष-भूषा आदि पहिन कर तथा वैसी ही भाव-व्यंजना करता हुआ आता है जैसा कि उपस्थित होने पर वह व्यक्ति करता जिसके रूप को अभिनेता ने धारण किया है। साधारण भाषा में इसे 'रूप भरना' भी कहते हैं।

अतएव स्पष्ट है कि 'नाटक' (संस्कृत का रूपक) एक ओर तो 'काव्य' है और दूसरी ओर उसमें अभिनय के उपयुक्त होना भी आवश्यकीय है। इस प्रकार नाटक-सम्बन्धी तत्त्व दो भागों में विभक्त हो जाते हैं।

१. काव्य-सम्बन्धी (दृश्य काव्य-सम्बन्धी)

२. अभिनय-सम्बन्धी।

प्रथम के अनुसार नाटक के तीन प्रधान तत्त्व हैं—

१. वस्तु २. पात्र ३. रस।

इन तत्त्वों का आधार मूलभूत रूप में वही है जो नाटक के लक्ष्य से सम्बन्ध रखता है। भारतीय साहित्य में समन्वय की एक अपूर्व विचित्रता है। उसमें साहित्य और जीवन का समन्वय, जीवन और धर्म का समन्वय, धर्म और राजनीति का समन्वय आदि अनेक प्रकार के समन्वय की प्रतीति दिखाई देती है। इसका कारण भारतीय दार्शनिकता की वह विचार-धारा है जो अद्वैत के आधार पर यह मानती है कि सारी सृष्टि का उद्भव ब्रह्म से हुआ और उसका लय भी उसी में होजाएगा।

जीवन के व्यवहारिक क्षेत्र में यह भाव चार भागों में विभक्त कर दिया गया है—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। जीवन की प्रत्येक गति और मानव का प्रत्येक कार्य-व्यापार इन चारों में से किसी एक या अधिक की प्राप्ति के ही निमित्त होता है। अतएव भारतवासियों के लिए जीवन क्रिया-रूप होते हुए भी वह किसी एक लक्ष्य की पूर्ति का निरन्तर और उत्तरोत्तर उद्योग है। जो अधिकारी है, उसे अवश्य सफलता मिलती—बीच की बाधाएँ चाहे जितनी भी हों—है और जो अधिकारी नहीं उसे सफलता नहीं भी मिलती। यह असफलता पूर्ण भी हो सकती है और अपूर्ण भी। प्रत्येक सफलता या असफलता का रूप अधिकारी की अधिकार मात्रा पर निर्भर रहता है। यही कारण है कि असफलता भारतीय दृष्टि-कोण में एक असम्पूर्ण

कर्मफल-स्थिति है जिसका कारण साधक की साधना की अपूर्णता है। वह जीवन का एक निश्चित और सत्य पहलू नहीं है। वह ऐसी अवस्था है जिसे और अधिक उद्योग एवं तपस्या द्वारा दूर किया जा सकता है। यह अधिक उद्योग एक जीवन में भी संभव है और एक से अधिक जन्मों में भी संभव है। जन्म-जन्मान्तर के कर्मफल-स्वरूप किसी की सिद्धि मानने में भारतीय विचार-धारा का यही दृष्टिकोण है। भारतीय इसी कारण अपनी एक या अनेक असफलताओं से पराजित होकर अपने लक्ष्य को छोड़ नहीं देता बल्कि निरन्तर उसकी प्राप्ति में संलग्न रहता है। असफलता उसके लिए दुखान्त (Tragedy) नहीं क्योंकि उसकी दृष्टि में दुख का भौतिक मूल्य कुछ भी नहीं है। पूर्व की यह जीवन-सम्बन्धी दृष्टि पश्चिम से नितान्त भिन्न है।

जीवन के प्रति इसी दृष्टिकोण के कारण संस्कृत के नाटकों में और अधिकांश हिन्दी के मूल नाटकों में वैसा दुखान्त नाटक (Tragedies) नहीं हैं जैसे अंग्रेजी साहित्य में मिलते हैं। अंग्रेजी विचार-धारा का आधार भौतिक सुख, दुख की वृत्ति है और भारत का आध्यात्मिक। अतएव उसके हिसाब से किसी भी वस्तु का अभाव सत्य नहीं है क्योंकि अभाव की कोई सत्ता ही नहीं।

संभवतः यही कारण है कि भारतीय नाटकों के नायक और नायिकाएं साधारण जन-समाज से नहीं लिए गए, वे अधिकारी-वर्ग के प्रतिनिधि जैसे चित्रित किए गए हैं। हिन्दी में भारतेन्दु

ही एक ऐसे व्यक्ति थे जिन्होंने अपने चारों ओर के वातावरण में से अपने पात्रों को चुना और उनका वैसा ही चरित्र-चित्रण भी किया जैसी उनकी जीवनधारा थी। इसे हम अंग्रेजी और युग दोनों का प्रभाव मान सकते हैं। भारतेन्दु का अनुकरण करने वालों की तो बाढ़ ही आ गई। अस्तु !

जीवन का संघर्ष—भीषण और नग्न आर्थिक स्थिति पर अवलम्बित संघर्ष—भारत के प्राचीन नाटकों का विषय नहीं रहा। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की इच्छा से होने और किए जाने वाले कार्यों में जिस प्रकार के अधिकारी पात्रों की आवश्यकता थी, उन्हीं का समावेश उनमें किया गया है। दूसरी बात यह भी थी कि भारतीय परम्परा जीवन में आनन्द, संतोष और सत्यानंद की इच्छुक रही है। जैसा पहले कहा जा चुका है, इसी कारण काव्य के आनन्द को 'ब्रह्मसहोदर-आनन्द' की उपाधि से विभूषित किया गया है। जो कोई भी तत्त्व इस आनन्द-रस की उपलब्धि में बाधक सिद्ध हुआ उसका निषेध कर दिया गया केवल व्यावहारिक परम्परा में ही नहीं वरन् शास्त्र तक में वैसे नियम निर्धारित कर दिए गए। यही कारण है कि रंगमंच पर 'दूर से आह्वान,' 'स्नान', 'युद्ध' आदि वस्तुओं को दिखाना वर्जित माना गया है।

रस को प्रधानता देने के कारण और जीवन से साहित्य का निकटतम सम्बन्ध बनाये रखने के कारण 'वस्तु' के तीन विभाग किए गए :—

१. प्रख्यात—जिसका कथानक जगत् और इतिहास-प्रसिद्ध हो। ऐसा होने से कथानक की जटिलताओं में फंसने से नाटककार बच जाता था और वर्तमान साहित्य में जो जीवन की जटिलता का प्रदर्शन होता है और उसके परिणाम-स्वरूप जो वस्तु के कथा-मोड़ हो जाते हैं उनसे युक्त होकर वह अपनी प्रतिभा का प्रयोग अन्य दिशाओं में कर सकता था।

२. उत्पाद्य—जिसका कथानक कल्पित हो! सब प्रकार के अंकुश होते हुए भी नाटककार को बिल्कुल ही बंदी बनाकर रखना न तो संभव ही था और न वांछनीय ही। अतएव कल्पना-प्रसूत कथा-वस्तु की स्वतंत्रता उसे दे दी गई थी। परन्तु इस स्वतंत्रता का उपयोग बहुत कम संस्कृत-लेखकों ने किया। इसका कारण भी उनका भारतीय दृष्टिकोण ही था।

३. मिश्रित—जिसका कथानक प्रख्यात और उत्पाद्य मिश्रित हो। ऐसे नाटकों में लेखक को अपनी कथा-वस्तु के सजाने की पूर्ण स्वतंत्रता मिल जाती है।

वास्तव में यह निर्णय करना कि कौन-सा नाटक नितान्त 'प्रख्यात कथानक' के आधार पर लिखा हुआ है और कौन-सा 'मिश्रित' है अत्यन्त कठिन है। प्रायः देखा जाता है कि लेखक प्रख्यात कथानक की घटनाओं में कुछ परिवर्तन कर देता है। इसके दो कारण हो सकते हैं—कथानक और कथा-वस्तु को रोचक एवं स्वाभाविक बनाने के लिए अथवा किसी पात्र के कुछ अंशों को प्रख्यात से थोड़ा भिन्न चित्रित करने के लिए। उदाहरण

के लिए कालिदास की 'शकुन्तला' देखिए। प्रख्यात कथानक के अनुसार दुष्यन्त द्वारा शकुन्तला का प्रत्याख्यान दुष्यन्त की अपना वचन न रखने की आदत के कारण हो सकता है परन्तु लेखक को अपने नायक के चरित्र को उज्ज्वल दिखाना अभीष्ट था अतएव अपने नायक का यह कार्य उसे किसी अन्य कारण दिखाना आवश्यक था। एतदर्थ दुर्वासा के शाप की कल्पना की गई है। इसी प्रकार वाल्मीकि के अनुसार सीता का निर्वासन राम की आज्ञा से हुआ था परन्तु भवभूति ने राम को इस कलंक से बचाने के लिए गर्भधारिणी सीता के मुख से स्वयं वन जाने की इच्छा प्रगट कराकर अपने नायक को उज्ज्वल कर लिया है।

इस प्रकार की स्वतंत्रताएँ नाट्य-शास्त्र-सम्मत थीं और लेखक उनका उपयोग करते थे। स्वयं प्रसाद जी ने हिन्दी के नाटकों में इस स्वतंत्रता से काम लिया है। जनमेजय का नागयज्ञ प्रख्यात-ऐतिहासिक-घटनाओं के आधार पर लिखा गया है परन्तु उन घटनाओं का विश्लेषण, चयन और अभिव्यक्ति प्रसाद के अपने मस्तिष्क की उपज है। परिणामतः उन्हें कुछ ऐसे पात्रों की भी सृष्टि करनी पड़ी है जो ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं हैं। उनके चन्द्रगुप्त और स्कन्दगुप्त नाटकों के लिए भी यही कथन सत्य है। हरिकृष्ण 'प्रेमी', उदयशंकर भट्ट आदि अन्य नाटककारों के विषय में—जिन्होंने ऐतिहासिक नाटकों की रचना की है—यही कहा जा सकता है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि नाटकों की कथा-वस्तु को दो भागों में ही विभक्त करना अधिक सुगम और युक्ति-युक्त है। शुद्ध प्रख्यात कथा-वस्तु का मिलना दुर्लभ है।

महत्त्व की दृष्टि से प्रत्येक कथा-वस्तु को दो प्रकार का माना गया है—

१. आधिकारिक—वे परस्पर संबन्धित घटनाएँ जिनका आधार नाटक का नायक और उसका कार्य-व्यापार होता है। राम का चरित किसी भी तत्सम्बन्धी विषय के नाटक में आधिकारिक-वस्तु कहलाएगा।

२. प्रासंगिक—प्रधान उपरोक्त वस्तु के साधक इतिवृत्त को कहते हैं। सुग्रीव का चरित और तत्सम्बन्धी कथा-जो रामचरित की उपकारक है-इसी के अन्तर्गत आएगी।

कार्य-व्यापार की दृष्टि से समस्त कथा-वस्तु को पाँच 'अवस्थाओं' (Stages of Development) में विभाजित कर दिया गया है।

(अ) आरंभ—मुख्य फल की सिद्धि के लिए जो औत्सुक्य है वही आरंभ है। प्रत्येक कार्य-व्यापार किसी न किसी विचार का परिणाम होता है अतएव जैसे ही मस्तिष्क में कोई विचार उत्पन्न होता है वैसे ही कार्य का 'आरंभ' मान लिया जाता है।

(आ) प्रयत्न—आरंभ की दूसरी अवस्था का यह त्वरा-युक्त व्यापार है जो फल की प्राप्ति के निमित्त किया जाता है। इसी को प्रयत्न कहते हैं। 'प्रयत्न' और 'आरंभ' में थोड़ा-सा ही भेद है।

एक क्रिया-व्यापार की अवस्था है, दूसरी विचार-मात्र की।

(इ) प्राप्त्याशा—यह तीसरी अवस्था है जब फल की प्राप्ति की आशा अनेक उपायों एवं अपायों से सम्बद्ध होती है परन्तु उसकी संभावना हो जाती है। राजा दुष्यन्त को शकुन्तला के प्राप्त होने की संभावना उस समय होने लगी थी जब सखियों के वचन द्वारा उसे पता चला कि शकुन्तला कण्व ऋषि की अपनी कन्या न होकर पोष्य कन्या थी। वह जानता था कि देश काल के अनुसार ब्राह्मण-कन्या के साथ क्षत्रिय का संबंध असंभव था।

(ई) नियताप्ति—वह अवस्था होती है जब सारे अपाय दूर हो जाते हैं और प्राप्ति नियत या निश्चित हो जाती है परन्तु अभी प्राप्ति होती नहीं।

वास्तव में देखा जाय तो 'प्राप्त्याशा' और 'नियताप्ति' की अवस्थाएँ एक दूसरे से इतनी मिली-जुली हैं कि उनको पृथक् करना बड़ा कठिन है। संस्कृत के अनेक नाटकों में दोनों की स्पष्ट सीमा कभी-कभी दिखाई दे जाती है परन्तु हिन्दी में यह स्पष्टता नहीं के बराबर है। कथा-वस्तु की जटिलता, चरित्र-चित्रण का विकास एवं नाटक की धारा-वाहिकता आदि कुछ ऐसे तत्त्व हैं जिनके कारण दोनों में भेद संभव नहीं होता। इसके अतिरिक्त यदि दर्शक को कथा-वस्तु का यह अंश स्पष्ट हो जाता है तो उसका औत्सुक्य मंद पड़ जाता है। फल की निश्चिंतता उसकी संतोष-भावना को उद्वेलित कर देती है और परिणाम-

स्वरूप वह भावी दृश्यों में मन लगाने में अपने को असमर्थ पाता है। यह स्वाभाविक है कि मनुष्य की उत्सुकता तभी तक है जब तक परिणाम का निश्चय नहीं होता।

(उ) फलागम—सम्पूर्ण फल-प्राप्ति की अवस्था। जैसे ऊपर विवेचन हो चुका है 'फलागम' संस्कृत नाटकों की एक विशेषता है। अधिकारी को सम्पूर्ण फल मिलना ही चाहिए। अतएव संस्कृत के नाटक इसी कारण 'सुखान्त' (Comedy) हैं, 'दुखान्त' (Tragedy) नहीं। परन्तु हिन्दी में संस्कृत के इस नियम का पालन पूर्ण रूप से नहीं होता। नाट्य-शास्त्र के ये नियम हिन्दी-नाटक-साहित्य में नहीं लगते। 'फलागम' तो होता ही है परन्तु वह सुखान्त भी हो सकता है और दुखान्त भी।

संक्षेप में कथा-वस्तु की उपरोक्त पाँच अवस्थाओं में से हिन्दी में केवल 'चार' ही मिलती हैं। प्रश्न यह है कि 'नियताप्ति' और 'प्राप्त्याशा' को मिलाकर जो अवस्था आती है उसका नाम क्या हो? इस अवस्था को 'चरम-सीमा' की संज्ञा दी जा सकती है क्योंकि इसमें अनिश्चितता तो विशेष रूप से रहती ही है। घटनाओं के मोड़ होते हैं परन्तु परिणाम का निश्चय नहीं हो पाता और जैसे ही यह निश्चय संभव होता है, नाटक की समाप्ति हो जाती है। अंग्रेजी में इसे ही Climax माना है।

उपरोक्त पाँच अवस्थाओं के अनुकूल ही संस्कृत नाट्य-शास्त्र में प्रयोजन की सिद्धि के लिए पाँच 'अर्थ-प्रकृति' (Five elements of the plot) भी मानी गई हैं। ये अर्थ-प्रकृतियाँ

(प्रयोजन+साधनोपाय) कथा-वस्तु के हेतु माने गए हैं।

(अ) बीज (Germ)—जिस हेतु से कार्य-व्यापार आरंभ हो—यथा दुष्यन्त और शकुन्तला का फुलवारी में प्रथम मिलन।

(आ) बिंदु—अवान्तर कथा के विच्छिन्न होने पर भी प्रधान कथा के अविच्छेद का जो निमित्त है। यथा शकुन्तला में अंगूठी।

(इ) पताका (Episode)—प्रासंगिक कथा जो दूर तक व्याप्त हो। यथा शकुन्तला में विदूषक की कथा।

(ई) प्रकरी (Incident)—प्रसंग में आया हुआ चरित-यथा रावण और जटायु-संवाद।

(उ) कार्य (Denouement)—जो प्रधान साध्य हो और जिसके लिए सब साधन एकत्रित किए गए हों। यथा दुष्यन्त-शकुन्तला-मिलन।

वर्तमान हिन्दी नाटकों में इनका ध्यान नहीं रखा जाता। यद्यपि ये सब हेतु मुख्य या गौण रूप से वर्तमान रहते हैं। साधारणतया यह प्रसंग 'घटनाओं' के अन्तर्गत आ जाता है, वे घटनाएँ चाहे प्रधान हों अथवा प्रासंगिक।

कथा-वस्तु से सम्बन्ध रखने वाली एक और चीज़ है जिसे 'सन्धि' Junctures कहते हैं। 'एक ही उद्देश्य के निमित्त कथाओं के अवान्तर-प्रयोजन-सम्बन्ध को सन्धि कहते हैं।' ये भी पाँच हैं—

(अ) मुख-सन्धि—जहाँ आरंभ नामक दशा के साथ बीज की उत्पत्ति हो। यथा शकुन्तला और दुष्यन्त का प्रथम मिलन।

(आ) प्रतिमुख-सन्धि—बीज का अंकुरित होना—दुष्यन्त का कुटी पर आकर शकुन्तला को देखना और कण्व की बहिन का आना।

(इ) गर्भ-सन्धि—जहाँ पात्र यह आशा करें कि उन्हें वांछित फल मिल जाना चाहिए। दुष्यन्त और शकुन्तला का गांधर्व-विवाह।

(ई) निर्वहण-संधि—अन्य संधियों में बिखरे हुए अर्थों का जहाँ एक प्रधान प्रयोजन में सम्बन्ध किया जाय। शकुन्तला नाटक के सातवें अंक में शकुन्तला के परिज्ञान के पीछे की कथा।

जैसा उपरोक्त विवरण से प्रतीत होता है ये सन्धियाँ वास्तव में 'घटनाओं का सम्बन्ध-निर्वाह' हैं। घटनाओं के इसी कलात्मक सम्बन्ध-निर्वाह से 'कथा-वस्तु' का निर्माण होता है अन्यथा घटनाओं का वर्णन-मात्र तो इतिहास में भी होता है और अनेक प्रतिदिन सुनी जाने वाली 'राजा-रानी' की कहानियों में भी। 'कथा-वस्तु' को 'कथानक' से पृथक् मानने का भी कारण दोनों के विन्यास का अन्तर है। एक में उद्देश्य-प्राप्ति के निमित्त चुनी हुई घटनाओं को स्वाभाविक रूप से चुनकर सजाने की कला है और दूसरे में केवल घटनाओं का वर्णन मात्र अभीष्ट है।

कथा-वस्तु में जिन घटनाओं का वर्णन होता है उनके विषय में एक नियम यह भी है कि वे सब भारतवर्ष ही में होनी चाहिएँ। संस्कृत नाट्यशास्त्र में, इस प्रकार, स्थान, समय और कार्य-व्यापार-संबंधी नियमों का समन्वय करके ही स्वाभाविक

रूप से कर दिया है। अभारतीय नाट्यशास्त्रों में वर्णित संकलन-त्रय (Three unities—Time, Place and Action) का निर्वाह भारतीय विवेचन में और अधिक सम्पूर्ण हो सका है ! केवल दृष्टिकोण में अन्तर है। भारतीय दृष्टिकोण से इन सब सरलताओं और नियमों का कारण रसास्वादन के अवरोधी सभी तत्त्वों का प्रतिरोध है और अभारतीय दृष्टिकोण जीवन की अनेक-रूपता में विषमता को हटाना है। परन्तु वर्तमान साहित्य में, जो अधिकांश में 'समस्या-नाटकों' के रूप में रचा जा रहा है, जीवन की जटिलता और परिणामतः कथा-वस्तु की जटिलता की प्रधानता है। ऐसा प्रतीत होता है मानों नायक-नायिका और उनके विरोधी एवं सहयोगियों को रंगमंच पर जीवन-संघर्ष में छोड़ दिया जाता है और पात्र अपने कर्मों का जाल बनाते हुए या तो उनमें फँस कर असफल हो जाते हैं अथवा अपनी बुद्धि और वातावरण का लाभ उठाकर सफलता प्राप्त करने में समर्थ हो जाते हैं।

और चाहे जो हो इस दृष्टिकोण ने जीवन की संकुचितता को हटाकर उसकी विशालता का अवश्य शंखनाद सुनाया है। नाटक की समस्याएँ अब केवल थोड़े से विषयों तक सीमित नहीं रहीं जैसी वे प्राचीन काल में थीं। भक्ति, धर्म आदि के साथ-साथ हमारे नाटककार मानवी प्रकृति के विस्तृत प्रांगण में उतर आए हैं और चेतन जीवन-दर्शन का समावेश अपनी रचनाओं में कर रहे हैं। कथा-वस्तु के प्रसंग में ही उन अंकों, दृश्यों आदि

पद्धति पर हुई है। अन्यथा वर्तमान नाटक केवल अंक और दृश्यों में विभाजित होते हैं। प्रत्येक अंक घटनाओं की एक विशेष अवस्था के विकास को, आवश्यक दृश्यों की संख्या द्वारा प्रस्तुत करता है। समय, स्थान और कार्य-व्यापार का कलात्मक समन्वय लेखक के कथा-वस्तु सृजन की कुशलता पर अवलम्बित रहता है।

प्रत्येक दृश्य कथा और विषय-सम्बन्धी चित्र-पटी अथवा अन्तःपटी पर दिखाया जाता है। ऐसा भी होता है कि एक ही विषय के कई दृश्य एक ही चित्रपटी पर दिखा दिए जायें।

नाटक का दूसरा तत्त्व 'पात्र' है। पात्र में नायक, उसका विरोधी नायक—यदि कोई हो—तथा अन्य पुरुष-पात्रों के अतिरिक्त स्त्री-पात्र भी सम्मिलित हैं।

पुरुष-पात्रों में 'नायक' सर्वप्रधान है। यह शब्द संस्कृत की 'नी' धातु से निकला है जिसका अर्थ है 'ले जाना', नायक अपने लक्ष्य के साथ-साथ दर्शक-मंडली को भी उसी तक ले जाने वाला होता है अतएव इसे 'नायक' कहते हैं। फलागम का आनंद भी इसी को मिलता है क्योंकि वह सिद्धि का उपयुक्त पात्र होता है। इस दृष्टि से इसका नाम 'अधिकारी' भी है।

गुणों के आधार पर, नायक की शक्ति-सम्पन्नता आदि को ध्यान में रखकर इन्हें चार वर्गों में विभाजित किया गया है—

१. धीरोदात्त—इस वर्ग के नायक बड़े गंभीर स्वभाव वाले निरहंकारी, क्षमा-युक्त, दृढ़-व्रती और अपनी प्रशंसा न करने

वाले आदर्श महापुरुष होते हैं—यथा राम, युधिष्ठिर।

२. धीरोद्धत—इस वर्ग में मायावी, प्रचण्ड, चपल, दम्भी, शूर और अपनी प्रशंसा के स्वयं पुल बाँधने वालों का समावेश रहता है—यथा भीमसेन, दुर्योधन।

३. धीर-ललित—इस वर्ग के नायक निश्चिन्त, कोमल-स्वभाव, नृत्य आदि ललित कलाओं में प्रसक्त व्यक्ति होते हैं—यथा वत्सराज (रत्नावली में)।

४. धीर-प्रशान्त—यह वर्ग साधु नायकों का है। वे त्यागी, कृती, पुण्यात्मा होते हैं और प्रायः ब्राह्मण वंश के होते हैं यथा माधव (मालती-माधव में)।

प्रत्येक वर्ग के नायकों की चार श्रेणियाँ होती हैं—

१. दक्षिण—सब से समान प्रीति करने वाला।

२. धृष्ट—अपराध पर निःशंक, झिड़कियों पर अलज्जित।

३. शठ—अन्य में अनुरक्त; बाहर से अनुराग दिखाने वाला और प्रच्छन्न रूप से अप्रिय कार्य करने वाला।

४. अनुकूल—एक ही नायिका में अनुरक्त।

नायक के फलागम और कार्य-सिद्धि में व्याघात पहुँचाने वाला 'प्रति-नायक' कहलाता है। इसी प्रकार अन्य पुरुष-पात्र होते हैं परन्तु 'विदूषक' का नाटक में एक विचित्र महत्व है। वह केवल नाटक को नीरस होने से ही नहीं बचाता वरन् नायक को अवसर पर उचित परामर्श भी देता जाता है। संभवतः यही कारण है कि उसकी विचित्र वेश-भूषा के साथ-साथ उसमें

आलरणीय गुणों का होना आवश्यक माना गया है और अन्तः-पुर तक में बे-रोक-टोक उसका प्रवेश करा दिया गया है।

स्त्री-पात्रों में 'नायिका' के विषय में विशद विवेचन है। समस्त नायिका-भेद इसी आधार पर अवलम्बित है। इन सब के अति सूक्ष्म कथन में जाने की आवश्यकता नहीं क्योंकि नाटक में पुरुष-पात्रों की तरह स्त्री-पात्रों की सभी श्रेणियों और वर्गों की आवश्यकता नहीं पड़ती। विशेष रूप से हिन्दी के वर्तमान नाटकों में साधारण से साधारण व्यक्ति नाटक का नायक और नायिका बन सकता है। देवता और देवियों को छोड़कर साधारण मनुष्यों को नायक-नायिका पद पर बिठाने के लिए भारतेन्दु ने पहला प्रयास किया। संस्कृत नाट्य-शास्त्र के अनुसार नाटकों की परम्परा में नायक अधिकतया उच्च घराने का रखा जाता था। इस नियम के मूल में 'आदर्शवाद' की प्रेरणा थी। परन्तु भारतेन्दु ने अपनी रचनाओं में सब प्रकार के पात्र लिए हैं। उनमें सत्यवादी प्रतापस्वरूप हरिश्चन्द्र भी हैं और [illegible] भी; उनमें त्यागी, वीर, प्रेमी सुन्दर भी हैं और पापात्मा और [illegible] सब भी; उन में भक्त-हृदय चन्द्रावली भी है और धनदास तथा वनितादास जैसे लोग भी। उनके नाटकों में मंत्री, वैद्य, पंडित, काजी-मुल्ला, [illegible], व्यापारी, [illegible], [illegible], चूरन, [illegible] और [illegible] वाले भी हैं और राजनीतिक कार्यकर्ता भी। प्रत्येक का चरित्र [illegible] के अनुकूल है, [illegible] भी और यथार्थ भी।

अन्य नाटककारों ने भी यही मार्ग ग्रहण किया। फलतः हिन्दी नाटकों में पात्रों का वर्ग-संगत विभाजन कुछ नहीं। केवल उनके चरित्र-चित्रण और उसकी कलात्मक अभिव्यंजना पर जोर दिया गया है।

चरित्र-चित्रण का विधान (Technique) कुछ पुराना है और कुछ नया। पुराने साधनों में 'आकृति' ,वेश-भूषा आदि, 'वाणी' (उच्चारण तथा भाषा के स्वरूप का प्रयोग), अन्य पात्र की 'सम्मति', 'स्वगत', 'आत्म-भाषण' (Soliloquy) एवं 'कार्य-व्यापार' द्वारा चरित्र-चित्रण की प्रथा है। परन्तु आज-कल 'स्वगत' को अस्वाभाविक और असंगत समझा जाता है क्योंकि यह बड़ा विचित्र प्रतीत होता है कि किसी पात्र के विचारों को दर्शक तो जान सकें और उसके कथन को उसी के साथ रंगमंच पर खड़े हुए अन्य पात्र न सुन सकें।

नाटक में कथोपकथन की ही प्रधानता होती है और इसी तत्त्व के द्वारा नाटककार अपने व्यक्तित्व को पृथक् रखकर, अपनी कथा-वस्तु के विकास के साथ-साथ कार्य-व्यापार दिखाता हुआ चरित्र-चित्रण करता है। यह चरित्र-चित्रण नाटक के 'उद्देश्य' अथवा 'प्रयोजन' पर अवलम्बित रहता है।

चरित्र-चित्रण कैसा हो ? इसका उत्तर केवल यही है कि वह 'पात्र', 'देश', 'काल' और 'वातावरण' के अनुकूल होना आवश्यक है। 'चरित्र' कोई स्थायी वस्तु नहीं, यद्यपि इसमें दृढ़ता एक महान गुण है, परन्तु जीवन के विकास के साथ-

साथ 'चरित्र' का भी विकास होता है और इसलिए परिस्थिति-अनुकूल उसका उन्मेषण भी होना आवश्यक है। लेखक का संसार-सम्बन्धी ज्ञान, मानव के प्रति उसकी मनोवैज्ञानिक प्रतीति और समाज के लिए उसका दृष्टिकोण आदि कुछ ऐसे तत्त्व हैं जिनके आधार पर वह अपने पात्रों की सृष्टि करता है। पात्र सत्य रूप में हैं अथवा असत्य, आदर्शवादी हैं अथवा यथार्थवादी; पात्र के साथ 'न्याय' हुआ है अथवा 'अन्याय' अथवा चरित्र-चित्रण में कितना औचित्य है और कितना अनौचित्य ?—इन सभी प्रश्नों का उत्तर लेखक की विचार-धारा और अभिव्यंजना शक्ति पर निर्भर है। नाटक में चरित्र-चित्रण की सफलता अत्यन्त दुष्कर कर्म है क्योंकि नाटककार के साधन बड़े सीमित हैं। यही कारण है कि उत्कृष्ट नाटकों की संख्या साहित्य के अन्य अंगों की अपेक्षा सदैव न्यून रहती है।

नाटक का तीसरा तत्त्व 'रस' है। इस प्रसंग का विवेचन पहले काव्य-प्रसंग में हो चुका है। वास्तव में रस-सम्प्रदाय का प्राचीनतम परिचय भरत के नाट्य-शास्त्र ही में मिलता है और यह ग्रन्थ, जैसा नाम से प्रगट है, नाटक एवं उसके तत्त्वों को ध्यान में रखकर ही लिखा गया था।

रस का सम्बन्ध 'भाव' से स्पष्ट है। रस-निष्पत्ति के लिए नृत्त (केवल ताल, लय-युक्त नाच) और नृत्य (भावमूलक मुद्रा-युक्त नाच) का भी आश्रय लिया जाता है अतएव 'नृत्त' और 'नृत्य' भी नाटक के तत्त्वों में आवश्यकीय तत्त्व माने गए हैं।

अभिनय-सम्बन्धी तत्त्व

अवस्था के अनुकरण को 'अभिनय' कहते हैं। अतएव यह चार प्रकार से होता है—

१. आंगिक—अंगों द्वारा किया जाय। इसमें शरीर और उसके सभी अवयवों द्वारा व्यंजित जो मुद्राएँ होती हैं वे सब सम्मिलित हैं। नृत्य एवं नृत्त दोनों में विशेष प्रयोग होता है। अन्य आवश्यक स्थानों पर इस प्रकार के अभिनय से बड़ा काम निकलता है।

नायिकाओं के अलंकारों में 'अंगज' के अन्तर्गत 'हाव' और 'हेला' एवं 'कृति-साध्य' क अन्तर्गत 'लीला', 'विलास', 'विच्छित्ति', 'विव्वोक', 'मोट्टायित', 'कुट्टयित', 'विक्षेप', 'कुतुहल', 'चकित' एवं 'केलि' आदि सभी आंगिक-अभिनय के अंग हैं।

२. वाचिक—जो वाणी द्वारा किया जाय। संवाद के समय, 'स्वगत' के समय अपने आन्तरिक भाव को किस प्रकार दिखाया जाय इसमें वाणी और स्वर का बड़ा महत्त्व होता है। स्थिति के अनुकूल स्वर के ऊँचा, नीचा करने से भाव-व्यंजना में बड़ा अन्तर पड़ जाता है। अतएव चरित्र के अनुकूल पात्र को वाणी का होना अत्यन्त आवश्यक है। कर्कशा सीता और शकुन्तला को कौन पसन्द करेगा? इसी प्रकार माधुर्य से पूर्ण शूर्पणखा किसे रुचिकर होगी? युद्धभूमि में शृंगार-भावना से

ओतप्रोत सेनानायक की वाणी किस प्रकार योद्धाओं को प्रोत्साहित करने में समर्थ रह सकेगी ?

३. आहार्य—जो भूषण, वस्त्र आदि द्वारा किया जाय। वेशभूषा अभिनय की सफलता के लिए पहली आवश्यकता है। देश, काल और पात्र के अनुकूल उसका होना अति आवश्यक है।

ऐतिहासिक नाटकों में इसका महत्त्व और अधिक बढ़ जाता है क्योंकि वहाँ देश और काल का यथातथ्य चित्रण परमावश्यक है। यदि हिन्दूकाल के राजा को मुग़ल काल का चुस्त पाजामा पहना कर रंगमंच पर निकाल दिया जाय और इसी प्रकार औरंगजेब को अंग्रेज़ी पतलून पहनाकर तो कितना हास्यास्पद होगा।

स्त्रियों की वेश-भूषा पर तो और भी अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है। वातावरण, कार्य-व्यापार और स्थिति के अनुसार यह सब होना चाहिए।

४. सात्विक—स्तम्भ, स्वेद, रोमांच आदि सात्विक भावों द्वारा जो किया जाय। यह अंश वैसे तो बहुत कुछ आंगिक और वाचिक के ही अन्तर्गत आ जाता है क्योंकि स्वाभाविक रूप से सात्विक भाव का प्रदर्शन अवयवों के विशेष संचालन एवं वाणी के कंपन आदि से ही प्रतीत हो सकता है। परन्तु देखा जाता है कि कभी-कभी पात्र के इस अभिनय की ओर ध्यान नहीं जाता।

ऐसा प्रतीत होता है कि अभिनय के उपरोक्त अंगों की पूर्ति के ही निमित्त भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में निम्नलिखित कार्य-कर्ताओं का उल्लेख किया है—

१. भरत—नाट्य-संस्था का आधारभूत संचालक, वर्तमान Manager.

२. सूत्रधार—सब सूत्रों (विभिन्न साधनों) को एकाकी करने वाला। आधुनिक युग का निर्देशक या Director.

३. नट—रिहर्सल का अधिपति। वर्तमान Incharge of Rehearsals.

४. तौरिय—संगीत का अधिपति—वर्तमान Director of Music.

५. वेषकर—वर्तमान Incharge of war-drobe and Dress.

६. मुकुट-कृत—सिर के पहनने के सब प्रकार के मुकुट बनाने वाला।

७. आभरण-कृत—सब प्रकार के नाटकोपयोगी आभरण बनाने वाले।

८. माल्य-कृत—सब प्रकार की मालाएँ बनाने वाला।

९. चित्रक—पर्दे आदि चित्रित करने वाला।

१०. रजक—धोबी और रंगरेज दोनों के काम करने वाला।

संगीत, नृत्य और उसके उचित प्रयोग पर भी नाटक के अभिनय की सफलता बहुत कुछ अवलम्बित है। दोनों का समावेश कला और अभिनय की उत्कृष्टता के हेतु ही होता है।

इनके अतिरिक्त अभिनय की दृष्टि से रंगमंच और उसके पर्दों आदि का निर्माण एवं साज भी परम आवश्यक तत्त्व है। दृश्यों का चयन विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। दृश्य इस प्रकार के होने चाहिएँ कि उनके अन्त में या तो आगे का पर्दा गिरे और उस पर पात्रों का प्रवेश हो अथवा दृश्य के पात्रों का 'प्रस्थान' हो और पर्दा उठने पर दूसरे पात्रों का कार्य-व्यापार दिखाई दे। ऐसा नहीं होना चाहिए कि रंगमंच कार्य-व्यापार के अभाव में पात्रहीन दिखाई दे।

आधुनिक युग में वैज्ञानिक चमत्कारों ने प्रकाश-विज्ञान द्वारा अनेक प्राकृतिक दृश्यों का दिखाना सुगम कर दिया है। 'पृथ्वीराज-थियेटर' को इस अंश में विशेष सफलता मिली है। इस थियेटर के 'शकुन्तला' और 'पठान' नाटकों की सफलता में प्रकाश-दृश्यों का बड़ा महत्त्व है। आदर्श सफलता इसीमें है कि सभी प्रकार के अभिनय और उसे व्यंजित करने वाले साधनों में एक समन्वय (Harmony) हो और ऐसा प्रतीत हो कि समस्त दृश्यावली बड़ी स्वाभाविक तान और लय (Rhythm) में चल रही है। वर्तमान सिनेमा-नाटकों में कहीं कहीं इस तत्त्व का आधिक्य होने के कारण बड़ी विषमता आ गई है और चित्र अतिरंजित होने के कारण अप्रिय लगने लगे हैं।

नाटकों के भेद

संस्कृत के 'रूपक' के अनेक भेद हैं परन्तु हिन्दी में वे सब

प्राप्य नहीं हैं। प्राचीन परम्परा पर बने हुए नाटकों में निम्न रूप हिन्दी में मिलते हैं—

१. नाटक—जिसमें काव्य के सर्व-गुण प्राप्य हों, यथा 'सत्य-हरिश्चन्द्र' आदि।

२. भाण—जिसमें एक ही अंक हो और पात्र ऊपर देखकर 'आकाश-भाषित' रूप से अपने आप ही सारी कहानी सुना जाय। इस भाण का पात्र हँसना, गाना, क्रोध करना और गिरना आदि स्वयं ही दिखलाता है। इसका उद्देश्य हँसी है, यथा "विषस्य विषमौषधम्"—यह वर्तमान अंगरेज़ी का Mono-Drama है।

३. व्यायोग—इसमें युद्ध का निदर्शन, स्त्रीपात्र रहित और एक ही दिन की कथा का होता है। नायक कोई अवतार या वीर होना चाहिए, यथा 'धनंजय-विजय'।

४. प्रहसन—जिसमें हास्य की प्रधानता हो। नायक किसी भी श्रेणी या वर्ग का हो सकता है। प्रायः एक अंक का होता है परन्तु दृश्य अनेक भी होते हैं, यथा 'अंधेर-नगरी'।

५. नाटिका—चार अंकों का नाटक जिसमें स्त्री-पात्रों की अधिकता रहती है। नायिका कनिष्ठा रहती है और नाटिका के नायक की पूर्व-प्रणयिनी के वश में रहती है—यथा 'चंद्रावली'।

हिन्दी के वर्तमान नाटकों में ये भेद अब नहीं मिलते।

१. नाटक—चाहे जो विषय हो।

२. एकांकी नाटक—जीवन के एक पहलू को दर्शाने वाला नाटक जिसके निम्न तत्त्व माने गए हैं।

(अ) विषय की एकता—प्रतिपादित विषय में विषमता नहीं आनी चाहिए। सारी घटनाएँ मूल से सुसंबद्ध हों।

(आ) प्रभाव-ऐक्य—सब घटनाओं का प्रभाव एक हो। अलग-अलग घटनाओं द्वारा पृथक् पृथक् प्रभाव उत्पन्न होने से पाठक और दर्शक का मन क्षुब्ध हो जाता है अतएव ऐसा नहीं होना चाहिए।

(इ) वातावरण-ऐक्य—यद्यपि एक प्रकार से इस में और दूसरे तत्त्व में कोई विशेष भेद नहीं। दूसरे में केवल 'प्रभाव' पर जोर है और इसमें परिणाम उत्पन्न करने वाले उपकरणों पर।

(ई) उपरोक्त समस्त अवयवों का केन्द्रीकरण व्यष्टि या समष्टि रूप से पात्र पर हो। एकांकी में प्रधानता केवल एक पात्र या किसी वर्ग-विशेष के चरित्र-चित्रण को ही दी जा सकती है। समस्त पात्रों का समान चरित्र-चित्रण उसमें संभव नहीं है।

नाट्य-विधान की दृष्टि से एकांकी के निम्न मुख्य अंग हैं—

(क) उद्घाटन—पर्दा उठते ही दर्शकों का मन लेखक की दुनियां में प्रविष्ट हो जाना चाहिए। ऐसा करने के तीन साधन हैं—

अ. रंग-संकेतों द्वारा वातावरण बनाना

आ. किसी मूक-अभिनय द्वारा दर्शकों को आकर्षित करना
इ. संवाद द्वारा वातावरण-निर्माण

(ख) टिकाव—उद्‌घाटन के वातावरण का। इस अवस्था में दर्शक लेखक के उद्देश्य-सम्बन्धी प्रत्येक पात्र और घटनाओं के विषय में ज्ञान प्राप्त कर लेता है और परिणाम के हेतु उत्सुक रहता है। उसके मन में जो अनेक प्रश्न उठते हैं, वह उनका उत्तर पाना चाहता है।

(ग) विकास—इस अवस्था में लेखक को अपने कार्य और कारण की एकता की अभिव्यंजना अनिवार्य होती है। यदि दोनों में तर्क-बद्ध सम्बन्ध नहीं है तो दर्शक कभी एकांकी को पसन्द नहीं करेगा।

(घ) चरमोत्कर्ष—विकास के पश्चात् यह अवस्था आवश्यक है क्योंकि इसी में वह अपने संघर्ष या द्वन्द्व की समाप्ति का प्रयत्न करता है। इसी अवस्था में लेखक का अपनी दर्शक मंडली के साथ निकटतम सम्पर्क रहता हैं और वह उसके उद्देश्य रूपी संकल्प के लिए आतुर होती है। वास्तव में यही वह केन्द्र-विन्दु है जिस पर आकर कार्य-व्यापार के समस्त सूत्र एकत्रित होते हैं और गूँथ कर एक बनाये जाते हैं।

(ङ) अन्त—इस अवस्था में लेखक को वह प्रसाद देना पड़ता है जिसके लिए उसने अपनी दर्शकमंडली को इतना कष्ट दिया। संभव है यह अन्त वैसा तर्क-जन्य न हो जैसा 'तर्क' शब्द के अर्थ में प्रचलित है परन्तु यह निश्चय हैं कि वह अन्त

लेखक के तर्क के अनुसार सत्य हो और उन घटनाओं के उद्घाटन एवं विकास के अनुकूल हो जिनका उल्लेख कर लेखक ने अपने दर्शकों की उत्कंठा जाग्रत की थी।

हिन्दी के कुछ एकांकी इस कसौटी पर खरे उतरते हैं, यथा 'अँधेर नगरी', 'एक घूँट', 'चारुमित्रा', 'सबसे बड़ा आदमी कौन है ?' आदि।

३. प्रहसन—यह हँसी-प्रधान नाटक है। किसी भी विषय को लेकर लिखा जा सकता है। हास का साधन वेश-भूषा, वाणी, नाम आदि सभी हो सकते हैं परन्तु उत्कृष्ट कोटि का हास 'स्थिति-हास' (Humour of Situation) में दिखाई देता है।

अभाग्य से हिन्दी में इस प्रकार के प्रहसनों की संख्या नहीं के बराबर है और जो हैं भी वे अधिकांश में अनुवाद हैं यथा 'मंगनी के मियाँ' अथवा मोलियर के कुछ अनुवादित प्रहसन। प्रहसनों में शिष्टता और श्लीलता का ध्यान अति आवश्यक है क्योंकि हास ऐसा नहीं होना चाहिए जो दूसरे को व्यर्थ में चुभने वाला हो।

हास के अतिरिक्त 'व्यंग्य' प्रहसन भी हो सकते हैं। परन्तु हिन्दी में अभी इनका भी अभाव है।

इन भेदों के अतिरिक्त अन्य नाटक-भेद भी हिन्दी जगत में दिखाई देते हैं।

[illegible] नाटक—ये नाटक [illegible] में प्रायः नहीं आते।

का निर्माण सिनेमा के हेतु ही होता है और उसी के अनुकूल का नाट्य-विधान रहता है।

वर्तमान समय में सिनेमा जनता के आमोद का सर्वप्रथम धन है। परन्तु दुःख इस बात का है कि इतना लोक-प्रिय ने पर भी अधिकांश सिनेमा-नाटक साहित्यिक दृष्टिकोण से कोटि के नहीं होते। उनका विषय और पात्रों द्वारा अभिनय जक होता है जिसको देखने के कारण दर्शकों की प्रवृत्ति किक शृङ्गार-लिप्सा, इन्द्रिय-वासना और भौतिक सुख-मना की ओर अग्रसर होती है। उनके कथानक में जीवन को त्त बनाने वाले तथ्य का अभाव रहता है। भले ही वे जीवन एक सच्चे पहलू का दिग्दर्शन कराते हों परन्तु सब प्रकार सत्य न तो प्रदर्शनीय ही होता है और न वांछित ही।

इन सिनेमा-नाटकों के गीतों ने तो और भी ग़ज़ब ढा या है। जिस किसी को देखो 'कटारी मार मर जाना' के नारे गाता है, राज-मार्ग पर चलने वाला छोटे से छोटा और भावुक भावुक युवक, 'आय बसो मोरे मन में' तान अलाप कर अपने ल को हल्का करता हुआ दिखाई देता है। जब कभी निराश ता है तो गाने लगता है 'तूँबा बजता नहीं तार बिना' आदि। रेणाम यह होता है कि वर्तमान सिनेमा की शौक़ीन पीढ़ी रैय्या' और 'नरगिस' की शिकार तथा 'रेहाना' की अनुकरण-य एवं 'प्रेम अदीब' और 'वास्ती' की सेना-सी बन गई है।

यह कहने का अभिप्राय नहीं कि सिनेमा-नाटकों में अच्छे

हैं ही नहीं। 'विद्यापति', 'चंडीदास', 'क्वाँरा बाप', 'पुकार' आदि सिनेमा-नाटक बड़े उत्कृष्ट हैं और हिन्दी साहित्य को उन पर अभिमान है यद्यपि पुकार में उर्दू का आधिक्य है।

इस कला को अभी बहुत ऊपर उठाना है। व्यवसाय की एकमात्र वृत्ति को छोड़कर सिनेमा-नाटकों के मालिकों और निर्देशकों को देश और जाति की कल्याण-भावना में अपने को लगाना है। तभी यह वस्तु साहित्य-संसार की स्थायी सम्पत्ति हो सकेगी।

२. फ़ीचर—ये रेडियो द्वारा प्रसारित नाटक हैं अतएव इन का महत्व अपनी सीमा को ध्यान में रखते हुए ही आँकने की आवश्यकता है। देहली के आल-इंडिया-रेडियो एवं अन्य हिन्दी-भाषा-भाषी प्रान्तों के रेडियो-स्टेशनों से इनका समय-समय पर प्रसार किया जाता है। परन्तु अपेक्षाकृत यह वस्तु अभी भी नई है और इसमें ऐसी प्रौढ़ता नहीं आ पाई है जो उसे साहित्य में स्थान देकर आलोचना-योग्य बना सके। संक्षेप में नाटक-साहित्य के अन्तर्गत प्राचीन और अर्वाचीन सभी रूपों का समावेश है। अभी, जब कि हिन्दी के नाटक-साहित्य का निर्माण हो रहा है, यह निश्चय करना कि—हिन्दी नाट्य-शास्त्र के सिद्धान्त अमुक अमुक हैं अन्य नहीं—त्वरा-सम्पन्न प्रयत्न है। नाटक-साहित्य में अनेकों प्रयोग हो चुके हैं, कुछ अब हो रहे हैं। देश की वर्तमान अवस्था और उसकी आवश्यकताओं को देखते हुए प्रचलित रूपों में अनेक परिवर्तन करने पड़ेंगे। उस समय तक यही

उचित है कि भारतेन्दु-काल के नाटकों की आलोचना अधिकांश में दोनों प्रकार से की जाय अर्थात् संस्कृत की परम्परा के अनुकूल भी और वर्तमान परम्परा के अनुसार भी। यह आलोचना प्रत्येक नाटक के निर्माण पर अवलम्बित है अतएव लेखक ने जिस प्रणाली को अपनाया हो उसी की कसौटी पर उसे कसना उपयुक्त है। भारतेन्दु-काल के पश्चात् जो नाटक द्विवेदी-काल और प्रसाद-युग में रचे गए उन पर अधिकांश में नवीन तत्त्वों का समावेश है और इसलिए उनकी आलोचना का आधार नवीन तत्त्व ही हैं।

---

[६]

आख्यान : तत्त्व

पिछले प्रसंगों में कविता और नाटक सम्बन्धी तत्त्वों का विवेचन किया जा चुका है। दोनों काव्य के दो भेद माने गए हैं—श्रव्य-काव्य और दृश्य काव्य। साहित्य के पद्य-विभाग के अन्तर्गत ही ये दोनों रूप आते हैं। साहित्य का दूसरा रूप गद्य-विभाग है।

पद्य और गद्य का अन्तर यहाँ स्पष्ट करने की विशेष आवश्यकता नहीं। शब्दावली एक होने पर भी उसके प्रयोग एवं अन्य अवयवों के कारण जो दोनों में अन्तर है वह सभी जानते हैं। जिस प्रकार पद्य-साहित्य के विभिन्न रूप हैं उसी प्रकार गद्य-साहित्य भी अनेक रूपों से सज्जित है

गद्य-साहित्य का सर्वोत्कृष्ट रूप कौन-सा माना जाय, इस प्रश्न का निर्णय संभव नहीं। कुछ विद्वान 'निबन्ध' को इस श्रेणी में रखकर उसी की उत्कृष्टता द्वारा किसी भाषा के गद्य-साहित्य की गरिमा और विभूति का अनुमान लगाते हैं और कुछ 'आख्यान-साहित्य' के आधार पर अपना निर्णय देते हैं। इन दोनों मतों से यह तो विदित ही हो जाता है कि 'निबन्ध' और 'आख्यान' दोनों गद्य-साहित्य के प्रमुख स्तम्भ हैं। इनके अति-

रिक्त 'जीवन-चरित्र' तथा 'आलोचना' आदि रूपों का महत्त्व भी किसी प्रकार कम नहीं माना जा सकता।

प्रस्तुत प्रसंग में आख्यान और तत्सम्बन्धी तत्त्वों का संक्षिप्त विवेचन है।

आख्यान के दो प्रधान रूप हैं—

१. उपन्यास २. कहानी।

उपन्यास

यह शब्द संस्कृत का है परन्तु संस्कृत साहित्य में जिस अर्थ में 'उपन्यास' का प्रयोग किया जाता है उसी अर्थ में उसका व्यवहार 'हिन्दी' में नहीं होता। अमरुक के प्रसिद्ध श्लोक 'निर्यातः शनकैरलीकवचनोपन्यासमालीजनैः' में 'उपन्यास' का अर्थ लगभग वही है जो वर्तमान हिन्दी के 'व्याख्यान' और 'वक्तृता' आदि का है। साहित्य-दर्पणकार ने नाट्य-शास्त्र-सम्बन्धित 'प्रतिमुख सन्धि' की चर्चा करते हुए 'उपन्यास' (प्रसन्न करना) को उसका एक अवयव माना है—

"प्रत्यक्षनिष्ठुरं वज्रम् उपन्यासः प्रसादनम्"—

६—६३.

धातु अर्थ की दृष्टि से देखा जाय तो इस शब्द का अर्थ होगा उप=निकट, न्यास=रखना अर्थात् निकट रखना। परन्तु आज हिन्दी-साहित्य में 'उपन्यास' का प्रयोग अंग्रेजी के Novel शब्द के पर्यायवाची के रूप में होता है।

Novel शब्द का अर्थ 'नया' है और संभवतः यह नाम

उस साहित्यांग को दिया गया जो 'नया' था। अतएव यह तो स्पष्ट है कि अन्य साहित्यांगों की अपेक्षा 'Novel' नया साहित्यांग है और उसमें जो एक प्रकार की अपेक्षाकृत नूतनता है उसके स्वरूप पर ध्यान देना आवश्यक है।

फ्रांसीसी लेखक एबेल (M. Abel Chevelley) ने लिखा है कि नावल 'कुछ निश्चित सीमा में गद्यमय आख्यान है[1]'।

एबेल के कथन में उपन्यास की सम्पूर्ण परिभाषा आ-सी है। वह आख्यान है क्योंकि उसमें 'एक कहानी' कही गई है। कहानी की भाषा गद्यमय है और उसका विस्तार सीमित है। कहानी की सीमा उपन्यास में वही है जहाँ तक आकर उपन्यासकार पाठक के निकट अपने मन की कोई विशेष बात, कोई अभिनव मत, रखना चाहता है। इस बात के समाप्त होते ही उपन्यास समाप्त हो जाता है। समाप्ति पर पाठक का मनोरंजन भी होता है और मानव-प्रकृति के विषय में ज्ञान की वृद्धि भी। इस अर्थ में संभवतः 'उपन्यास' शब्द अपने उपरोक्त दो अर्थों ('धातु-अर्थ' और 'प्रसन्न करने वाला') को सार्थक करता हुआ अंग्रेजी के 'नावल' का अधिकारी पर्याय शब्द है। 'वह नई वस्तु पाठक के सामने रखता है और इसका सूचक है कि यह साहित्यांग प्राचीन साहित्यांगों से भिन्न है। अतएव जिस किसी लेखक ने 'आख्यान' अथवा 'कथा' आदि शब्दों का

1 'a fiction in prose of a certain extent.' (Une fiction en prose d'une certaine étendue).

परित्याग कर 'उपन्यास' का प्रयोग किया, उसकी प्रशंसा किए बिना नहीं रहा जा सकता।

तो उपन्यास में 'कहानी' होती है चाहे उसका सीमा-विस्तार निश्चित ही क्यों न हो। कहानी के साथ उन पात्रों का होना भी आवश्यक है जिनके साथ कहानी की घटनाएँ सम्बन्ध रखती हैं और ऐसी अवस्था में चरित्र-चित्रण तो अनिवार्य है क्योंकि 'चरित्र-चित्रण' है क्या ? पात्र अपनी बुद्धि के अनुसार किसी स्थिति-विशेष में एक निर्णय लेता है और उसके अनुसार कार्य-व्यापार की योजना होती चलती है। इस कार्य-व्यापार का जो परिणाम होता है उसी से पात्र का चरित्र आँका जाता है और जिस कला द्वारा यह चित्र प्रस्तुत किया जाता है वही 'चरित्र-चित्रण' की कला है। इस प्रकार उपन्यास के तीन तत्त्व परम आवश्यक हैं—

१ कथा-वस्तु, २ पात्र, ३ चरित्र-चित्रण।

कथा-वस्तु, जैसा नाटक के सम्बन्ध में बताया जा चुका है, घटनाओं का उद्देश्य-पूर्त्ति-निमित्त एक कलात्मक सम्बन्ध-निर्वाह है।

उपन्यास का अन्य तत्त्व वह है जिसके द्वारा कथा-वस्तु और चरित्र-चित्रण संभव है। इसके अनेक रूप होते हैं। कभी-कभी तो पात्र अपने मुख से सारी घटनाओं का वर्णन कर डालते हैं और उनका यह वर्णन 'आत्म-चरित' का रूप धारण कर लेता है। कभी पात्र परस्पर 'संवाद' द्वारा अपनी भावनाओं को प्रगट

करते हैं और आगे के लिए गतिशील होते हैं। कभी ऐसा भी होता है कि कुछ पात्रों में 'कथोपकथन' होता है और कुछ आवश्यक अंगों की पूर्ति लेखक अपने वर्णन और टिप्पणी से करता चलता है। इन सब का अन्तिम लक्ष्य कथा-वस्तु का स्वाभाविक विकास और पात्रों की मनोदशा का नैसर्गिक वर्णन है।

उपन्यास के पात्र मानव होते हैं और उनका कथोपकथन भी मानवों जैसा ही होता है। इसलिए मानव-बातचीत ही कथोपकथन की कसौटी भी है। उपन्यास की सफलता के लिए आवश्यक है कि कथोपकथन प्रसंगानुकूल हो और पात्र के उपयुक्त एवं परिस्थिति-विशेष के लिए संगत हो। कोई धुना, जुलाहा जो अशिक्षित भी हो और सु-संगति में भी न बैठा हो यदि राजनीतिक स्थिति पर वाद-विवाद करे तो असंगत ही प्रतीत होगा। इसी प्रकार यदि किसी उपन्यास के प्रायः सभी पात्र कवि बन जावेंगे तो उसमें स्वाभाविकता नष्ट हो जायगी। किसी भी प्रकार की कृत्रिमता का समावेश कथोपकथन में नहीं होना चाहिए। निरर्थक कथोपकथन भी वांछनीय नहीं है; क्योंकि यह तत्त्व उपन्यास का एक तत्त्व है, नाटक की तरह यह अनिवार्य नहीं है। वास्तव में जिस कथोपकथन से कथा की प्रगति, चरित्र का विकास न हो और जो पात्रों के मनोविकारों एवं घटनाओं के प्रति उनकी प्रतिक्रिया दिखाने में समर्थ न हो, उसे निरर्थक ही कहना होगा। पात्र की वैयक्तिकता की रक्षा भी

कथोपकथन में आवश्यक है। ऐसा नहीं होना चाहिए कि स्थिति-परिवर्तन के साथ-साथ पात्र का अपनापन और उसकी अपनी विशेषताएँ भी बदल जाएँ। कथोपकथन का महत्त्व इसमें है कि प्रत्येक पात्र की बातचीत स्पष्ट उसके व्यक्तित्व की ओर निश्चयात्मक संकेत कर दे न कि यह कि लेखक अपने निश्चयों, सिद्धान्तों, कल्पनाओं और जानकारी के भंडार को बलात् पात्रों के मुख में रखकर कथोपकथन-तत्त्व का दुरुपयोग करे।

यदि लेखक कहीं अपना सिद्धान्त व्यक्त भी करना चाहता है तो उसे अधिकार है कि कथोपकथन के उपरान्त अपनी आलोचना में उसका समावेश कर दे। हिन्दी के लब्ध-प्रतिष्ठ उपन्यास-लेखक प्रेमचन्द जी सदैव ऐसा ही करते थे।

'गोदान' में अन्तिम समय जब होरी लू लगने के कारण अचेत हो गया था, अपनी पत्नी की आवाज़ सुनकर थोड़ा-सा सचेत हुआ फिर आँखें बंद हो गईं। "गाँव में यह खबर हवा की तरह फैल गई। सारा गाँव जमा हो गया। होरी खाट पर पड़ा शायद सब कुछ देखता था, सब कुछ समझता था, पर ज़बान बन्द हो गई थी। हाँ, उसकी आँखों से बहते हुए आँसू बतला रहे थे, मोह का बंधन तोड़ना कितना कठिन हो रहा है ? "जो कुछ अपने से नहीं बन पड़ा, उसी के दुख का नाम तो मोह है। पाले हुए कर्तव्य और निपटाये हुए कामों का क्या मोह ? मोह तो उन अनाथों को छोड़ जाने में है, जिनके साथ हम अपना कर्तव्य न निभा सकें; उन अधूरे मंसूबों में है, जिन्हें हम पूरा न कर सकें"।

—गोदान

प्रेमचन्द जी की टिप्पणी कितने मार्के की है। होरी और धनिया के उस संक्षिप्त कथोपकथन के पश्चात् इसमें कितनी मूक व्यथा और आत्म-संवेदन है।

उपन्यास-सृष्टि को सजीव और प्राणयुक्त बनाने में देश-काल एवं बाह्य-प्रकृति चित्रण का भी आधार लिया जाता है। कोई भी भावना बिना किसी कारण-स्थिति के उद्भुत नहीं होती और न कोई कार्य-व्यापार बिना उचित पूर्व-पीठिका के सम्पन्न होता है अतएव देश-काल आदि का संविधान अनिवार्य है। उपन्यासों में यह संविधान या तो सामाजिक होता है या भौतिक।

सामाजिक उपन्यासों में से कुछ का सम्बन्ध समाज के उच्च मध्य एवं निम्न वर्ग से है: कुछ का मजदूरों और पूंजीपतियों से तथा कुछ का उद्योग-व्यवसाय से। ऐसे उपन्यास भी हैं जिनका सम्बन्ध कलात्मक जीवन से है परन्तु इनकी संख्या भी कम है और इनका महत्त्व, जीवन-सम्बन्धी विशाल जटिलता को देखते हुए, व्यवहार की दृष्टि से बहुत अधिक भी नहीं है। ऐसे उपन्यासों का प्रधान आकर्षण एवं साहित्यिक मूल्य उनमें वर्णित श्रेणियों, सामाजिक वर्गों आदि के कुशल और सत्य चित्रण में निहित रहता है और कलाकार की सफलता की कसौटी उसके वर्णन की यथार्थता एवं प्रभावोत्पादकता ही मानी जाती है।

भौतिक संविधान का उपयोग कथा-वस्तु को अधिक मार्मिक

एवं स्पष्ट करने में किया जाता है। व्यक्ति या पात्र की भावनाओं एवं मनोवेगों का वाह्य प्रकृति से सम्बन्ध जोड़ कर कथा-वस्तु का विस्तार किया जाता है। इस प्रकार के वर्णन में लेखक के लिए एक ही डर रहता है। यदि वह पात्र की प्रत्येक भंगिमा के साथ-साथ उसके चारों ओर की वस्तुओं का विवरण उपस्थित करने लगता है तो उसका फल यह होता है कि पाठक इन विवरणों के प्रति उदासीन होकर कथा-भाग पर अपने मन को केन्द्रित कर लेता है और ये सूक्ष्म विवरण, लाभदायक होते हुए भी, उसके लिए अरुचिकर वन जाते हैं। प्रेमचन्द जी तक में इस प्रकार के दोप कभी-कभी आ जाते हैं। ऐसे अवसर पर पाठक को एक विशेप झुंझलाहट-सी होने लगती है और वह सोचने लगता है कि लेखक उसे (पाठक को) क्या नितान्त मूर्ख ही समझता है कि उससे इतनी जानकारी की भी आशा लेखक को नहीं होती। मनोवैज्ञानिक भाषा में कहा जा सकता है कि पाठक के 'अहं' को, उसके 'ज्ञान' को एक धक्का पहुँचता है जो उसके लिए सह्य नहीं होता। अतएव उपन्यासकार को चाहिए कि देश-काल आदि का वातावरण उपस्थित करते समय वह वड़ी सावधानी से काम ले। वाह्य-प्रकृति का चित्रण करते समय ऐसा न हो कि लेखक उसे अतिरंजित करदे। ऐसे अवसरों पर प्रकृति का संवेदनशील रूप ही अधिकतर ग्राह्य होता है। तभी प्रकृति उदासीन न रहकर मानव के हर्ष और रुदन में उसका साथ देती है।

संक्षेप में उपन्यास के निम्न तत्त्व हैं—

१. कथा-वस्तु ।
२. पात्र और चरित्र-चित्रण ।
३. कथोपकथन ।
४. देश-काल, वातावरण ।
५. उद्देश्य ।

उपन्यास और जीवन

समस्त साहित्य का संबन्ध जीवन से है। जीवन की अभिव्यंजना ही साहित्य का प्रधान लक्ष्य है। अंग्रेजी समालोचक (I. A. Richards) रिचार्ड्स ने लिखा है कि मानव की स्वाभाविक वृत्तियों (Impulses) में साहित्य द्वारा एक प्रकम्पन होता है और इस प्रकार उनमें एक प्रकार का विक्षोभ (Disturbance) उत्पन्न हो जाता है। उदात्त साहित्य का लक्ष्य यह है कि यह विक्षोभ अशान्तिप्रद न होकर संतोषप्रदायक हो, कार्य-प्रेरक हो और जीवन के स्तर को उठाने वाला हो। सिद्धान्तरूप में कोई भी रिचार्ड्स के इस मत से असहमत नहीं हो सकता।

उपन्यास एक ऐसा साहित्यांग है जिसमें 'जीवन' की अभिव्यंजना अन्य साहित्यांगों की अपेक्षा अधिक मात्रा में हो सकती है। इसका ताना-बाना सभी जीवन के उपकरणों से बनता है। किसी सिद्धान्त के खण्डन अथवा मंडन के लिए उपन्यास नहीं लिखा जाता। इसकी रचना दिन-प्रतिदिन होने वाली घटनाओं के निरीक्षण पर होती है। यह आवश्यक नहीं है कि

उपन्यास में वर्णित घटनाओं का क्रम ठीक उसी प्रकार हो जिस प्रकार वह वास्तविक जीवन में घटती हैं। परन्तु यह आवश्यक है कि उनका संबंध-निर्वाह जिस कथा-वस्तु की सृष्टि करता है वह क्रम-बद्ध और जीवन में पाये जाने वाला होना चाहिए। पाठक के सामने आने वाला चित्र सुसंगत और तर्कबद्ध होना आवश्यक है और पढ़ने के उपरान्त उसकी यह धारणा होनी ही चाहिए कि जो कुछ उसने पढ़ा वह नितान्त सत्य न होने पर भी संभाव्य-सत्य अवश्य है।

जीवन के किस अंग को लेकर उपन्यासकार अपनी रचना की पुष्टि करता है, इस विषय में कोई नियम नहीं बनाया जा सकता। उसका नायक घृणित से घृणित व्यक्ति भी हो सकता है और महान् से महान् देवता भी। लेकिन यह अवश्य है कि उसके नायक और अन्य पात्रों का चित्र संपूर्ण होना चाहिए। 'संपूर्ण' से अभिप्राय यही है कि चित्र आदि से लेकर अन्त तक सभी आवश्यक एवं संभाव्य घटनाओं के सूक्ष्म तत्त्वों तथा मानवी प्रकृति की सूक्ष्मताओं से सर्वथा सम्पन्न हो। लेखक द्वारा जो परिणाम निकाले गए हों वे प्रतीतिबद्ध हों और उनके बाद पाठक यह न कहने पावे कि लेखक ने 'अमुक गोलमाल' कर दिया अथवा 'साहित्यिक-न्याय' की हत्या कर दी।

उपन्यास वास्तव में एक नई दुनिया का उद्घाटन हमारे सामने करता है और कभी-कभी उस कल्पनात्मक सृष्टि में, उस माया-पूर्ण संसार के आनन्द में पाठक इतना विभोर हो जाता

है कि उसे अपने अस्तित्व का ही पता नहीं रहता। वह स्वयं किसी नई सृष्टि में लग जाता है। उपन्यास-लेखक की कला की सफलता जीवन के इसी चित्रण में होती है। वह यथातथ्य का वर्णन केवल वस्तु-वर्णन की दृष्टि से नहीं करता वरन् इसलिए ही उसका समस्त प्रयास होता है कि मानवी वृत्तियाँ (Impulses) आनन्दमग्न होकर उदात्त कार्यों की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा ग्रहण करें।

उपन्यास में सत्य

काव्य और विज्ञान के सत्य में अन्तर रहता है। विज्ञान का सत्य कुछ तथ्यों पर निर्धारित रहता है। उसका आधार वही है जो 'था' या जो 'है'। जो 'हो सकता है' इस क्षेत्र में विज्ञान नहीं जाता परन्तु साहित्य का प्रवेश अधिकांश में इसी में होता है जो 'हो सकता है'। इसीलिए साहित्य शक्ति का साहित्य है। विज्ञान का साहित्य हमें जीवन के तथ्य देता है परन्तु शक्ति का साहित्य हमें जीवन के अनुपम चित्र भेंट करता है। शक्ति के साहित्य की सत्यता स्थूल सत्य में नहीं है, वह मानव-जीवन को प्रभावित करने वाले उपकरणों, उपादानों, मनोवेगों आदि के चित्रण पर अवलम्बित है। विज्ञान का सत्य पुरातन पड़ जाता है और कभी-कभी भावी खोजों एवं अन्वेषणों के आधार पर असत्य भी ठहरा दिया जाता है परन्तु साहित्य का सत्य

वर्तमान व्यवस्था आमूल परिवर्तित नहीं हो जाती। जैनेन्द्र की 'बुआ' मृणाल तब तक सदैव सत्य हैं जब तक नारी-जाति समाज की विषमता का शिकार बनकर, उसे चुनौती देने के लिए तैयार है। जीवन की कुछ अनुभूतियों का—विशेषकर भग्न-प्रेम का—चित्र वृन्दावनलाल के उपन्यासों में नितान्त सत्य है। 'गढ़-कुण्डार' में 'तारा', 'मानवती' तथा 'विराटा की पद्मिनी' की 'कुमुद' और 'गोमती' साँचे में ढली हुई मूर्तियों के समान पाठक के सामने स्पष्ट और सत्य रूप में आते हैं। एक दूसरे प्रकार का सत्य 'प्रसाद' जी के 'कंकाल' और 'तितली' में दिखाई देता है। समाज की जघन्यता का सजीव चित्रण इन दोनों में है। परन्तु इतना होने पर भी प्रसाद का यथार्थवाद 'ultra-realist लेखकों की भाँति शिष्टता की सीमा के परे नहीं है। स्त्रियों के प्रति व्यवहार, देश के मंदिर और मठों की अवस्था, पूजा-पाठ के ढोंग, विवाह आदि संस्कारों का पतन—जो भी अपने देश में है—उसी के आधार पर इन उपन्यासों का मानव-जीवन चित्रित किया गया है। समाज की अधिकांश समस्याएँ नित्य हैं अतएव यह नहीं कहा जा सकता कि जीवन-सम्बन्धी प्रश्नों का जो परिणाम प्रसाद ने दिखाया है वही 'अलम्' है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि उपन्यास का जीवन लेखक के अनुभवों का वह निर्णय होता है जो लेखक, सारी परिस्थितियों को देखकर, बड़ी सावधानी और विश्लेषण के पश्चात् स्थिर करता है।

उपन्यास और नीति

प्रेमचन्द्र जी ने लिखा था—"मैं उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र-मात्र समझता हूँ। मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्त्व है। ....वही उपन्यास उच्चकोटि के समझे जाते हैं जहाँ यथार्थ और आदर्श का समावेश हो गया हो। उसे आप 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' कह सकते हैं। आदर्श को सजीव बनाने के लिए ही यथार्थ का उपयोग होना चाहिए और अच्छे उपन्यास की यही विशेषता है। उपन्यासकार की सबसे बड़ी विभूति ऐसे चरित्रों की सृष्टि है जो अपने सद्व्यवहार और सद्विचार से पाठक को मोहित कर लें। जिस उपन्यास के चरित्रों में यह गुण नहीं है, वह दो कौड़ी का है।"

उपन्यास का नीति-तत्त्व बड़ा व्यापक है। स्पष्ट उपदेश देना उसका काम नहीं है परन्तु एक व्यापक नैतिक भावना का समन्वय उसमें अवश्य होना चाहिए। कोई भी व्यक्ति 'जो कुछ है' वही रहना नहीं चाहता। वह 'वर्तमान से उठकर' 'कुछ और अधिक' होने की अभिलाषा रखता है अतएव उसकी महत्त्वाकांक्षा स्वयं उसे 'यथार्थ' से 'आदर्श' की ओर अग्रसर करती है। अपने लक्ष्य की प्राप्ति में साधनों की सम्पूर्णता अथवा असम्पूर्णता के कारण जो 'फल' प्राप्त होता है उसके निर्देशन में लेखक नैतिक-तत्त्व का आश्रय लेता ही है। एतदर्थ 'नीति' को उपन्यास की प्रसंग-सीमा से बहिष्कृत नहीं किया जा सकता। बर्बरता से सभ्यता की ओर बढ़ने के उद्योग में मानव सदैव अपने नैतिक गौरव को बनाये रखने और बढ़ाने का ही तो उद्योग करता है। नैतिक गुणों की रक्षा और भरण-पोषण द्वारा ही वह उन्नति में समर्थ होता है। दोषों से मुक्त पूर्णता के रूप में सारी शक्तियों का संविधान नैतिक-संवाद नहीं तो और क्या है? 'पाप और पुण्य की समस्या' यदि नैतिक-तत्त्व से सम्बन्धित समस्या है तो 'चित्र-लेखा' भी नैतिक उपन्यास ही कहा जायगा। वास्तव में बात ऐसी है कि जिस प्रकार सारा विषय-ज्ञान अपनी चरम-सीमा पर आकर प्रत्येक विषय का दर्शन-ज्ञान बन जाता है, उसी प्रकार महत्ता की आकांक्षा रखने वाला कलाकार नीति का अवरोध कर उसकी ओर से उदासीन वृत्ति धारण नहीं कर सकता।

उपन्यास और नीति

प्रेमचन्द जी ने लिखा था—"मैं उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र-मात्र समझता हूँ। मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्त्व है।............वही उपन्यास उच्चकोटि के समझे जाते हैं जहाँ यथार्थ और आदर्श का समावेश हो गया हो। उसे आप 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' कह सकते हैं। आदर्श को सजीव बनाने के लिए ही यथार्थ का उपयोग होना चाहिए और अच्छे उपन्यास की यही विशेषता है। उपन्यासकार की सबसे बड़ी विभूति ऐसे चरित्रों की सृष्टि है जो अपने सद्व्यवहार और सद्विचार से पाठक को मोहित कर लें। जिस उपन्यास के चरित्रों में यह गुण नहीं है, वह दो कौड़ी का है।"

अपने इस सूक्ष्म विवेचन में इस महान् कलाकार ने प्रस्तुत विषय पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला है। 'नीति' का सम्बन्ध साधारण भाषा में 'आचार' से है अतएव दार्शनिकता और सदाचार-प्रवृत्ति से उसका सम्बन्ध स्वाभाविक है।

समस्त कला-संभूत साहित्य में नीति का एक विशिष्ट स्थान है। यह नैतिक तत्त्व उपन्यासों में, सत्य के तत्त्व के समान, धर्म की परिधि में निहित नैतिक तत्त्व नहीं है। धर्म के अन्तर्गत नीति-शास्त्र अनेक प्रकार के 'विधि' और 'निषेध' को लेकर चलता है और डंके की चोट पर उनका आदेश देता है परन्तु

उपन्यास का नीति-तत्त्व बड़ा व्यापक है। स्पष्ट उपदेश देना इसका काम नहीं है परन्तु एक व्यापक नैतिक भावना का समन्वय उसमें अवश्य होना चाहिए। कोई भी व्यक्ति 'जो कुछ है' वही रहना नहीं चाहता। वह 'वर्तमान से उठकर' 'कुछ और अधिक' होने की अभिलाषा रखता है अतएव उसकी महत्त्वाकांक्षा स्वयं उसे 'यथार्थ' से 'आदर्श' की ओर अग्रसर करती है। अपने लक्ष्य की प्राप्ति में साधनों की सम्पूर्णता अथवा असम्पूर्णता के कारण जो 'फल' प्राप्त होता है उसके निर्देशन में लेखक नैतिक-तत्त्व का आश्रय लेता ही है। एतदर्थ 'नीति' को उपन्यास की प्रसंग-सीमा से बहिष्कृत नहीं किया जा सकता। बर्बरता से सभ्यता की ओर बढ़ने के उद्योग में मानव सदैव अपने नैतिक गौरव को बनाये रखने और बढ़ाने का ही तो उद्योग करता है। नैतिक गुणों की रक्षा और भरण-पोषण द्वारा ही वह उन्नति में समर्थ होता है। दोषों से मुक्त पूर्णता के रूप में सारी शक्तियों का संविधान नैतिक-संवाद नहीं तो और क्या है? 'पाप और पुण्य की समस्या' यदि नैतिक-तत्त्व से सम्बन्धित समस्या है तो 'चित्र-लेखा' भी नैतिक उपन्यास ही कहा जायगा। वास्तव में बात ऐसी है कि जिस प्रकार सारा विषय-ज्ञान अपनी चरम-सीमा पर आकर प्रत्येक विषय का दर्शन-ज्ञान बन जाता है, उसी प्रकार महत्ता की आकांक्षा रखने वाला कलाकार नीति का अवरोध कर उसकी ओर से उदासीन वृत्ति धारण नहीं कर सकता।

जो आलोचक 'नीति' के नाम से चिढ़ कर उसमें 'मिथ्या' की मूर्त्ति देखते हैं और नाक-भौं सिकोड़ कर साहित्य में उसके अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते, उनके संस्कार अपनी अपरि-पक्वता के स्वयंदर्शी हैं। साहित्यकार अशोक के शिला-लेखों की तरह नीति और उपदेश का प्रचार नहीं करता, वह तो मानव के कर्तव्याकर्तव्य की ओर उसकी मानसिक संवेदनाओं को विक्षोभित कर देता है। परिणाम चाहे जो हो।

उपन्यास के भेद

नाटक की तरह उपन्यास का वर्गीकरण भी अनेक दृष्टि-कोणों से हो सकता है—

(अ) शैली के दृष्टिकोण से—

१. कथात्मक—प्रायः जैसे साधारणतया उपन्यास लिखे जाते हैं।

२. आत्म-कथा-रूपात्मक—यथा 'दिल की आग', 'बाण-भट्ट की आत्म-कथा'।

३. पत्रात्मक—यथा 'चंद हसीनों के खतूत'।

इन सब उपन्यासों में प्रथम श्रेणी के उपन्यासों की ही अधिकता है।

(आ) कथा-वस्तु के स्वरूप और लक्ष्य के अनुसार—

१. चरित्र-प्रधान—वह उपन्यास जिसमें पात्र की प्रधानता रहती है। प्रायः सभी घटनाएँ पात्र और उसके सहयोगी अथवा विरोधियों की बुद्धि और कार्य-कुशलता का परिणाम होती हैं।

पात्र वातावरण से प्रभावित होते हुए भी अपनी परिस्थिति का निर्माण अपने मानसिक और आत्मिक शक्ति के आधार पर बनाता हुआ चलता है और अन्त में या तो सफलता-लाभ करता है या अपनी किसी कमजोरी अथवा अल्पज्ञता के कारण असफल होता है। प्रेमचन्द का 'सेवा-सदन', 'गोदान', कौशिक जी का 'भिखारिणी', प्रतापनारायण श्रीवास्तव का 'विदा' और जैनेन्द्र की 'परख' इसी प्रकार के उपन्यास हैं।

२. घटना-प्रधान—वे उपन्यास जिनमें 'घटना' की प्रधानता होती है। ये घटनाएँ या तो कुतूहलजनक—जैसे जासूसी और तिलस्मी उपन्यासों में—चमत्कार दिखाने के लिए चित्रित की जाती हैं अथवा वे पात्रों के कार्य-व्यापार के कारण उत्पन्न होती हैं और बढ़ते २ ऐसा विस्तार एवं शक्ति प्राप्त कर लेती हैं कि उनका स्रष्टा उन्हीं के वशीभूत होकर आगे चलता है। उसकी सफलता अथवा असफलता इन घटनाओं की जटिलता पर अवलम्बित होती है। वह जो कुछ बनता या बिगड़ता है घटनाओं पर विजय प्राप्त न कर सकने के कारण। ऐसे उपन्यासों में 'नियतिवाद' की प्रधानता स्वाभाविक है।

हिन्दी में गोपालराम गहमरी एवं देवकीनन्दन खत्री के उपन्यास प्रथम वर्ग के उत्तम उदाहरण हैं। दूसरे वर्ग के उपन्यासों की एक निश्चित रेखा नहीं खींची जा सकती। जिस उपन्यास को पात्र-प्रधान कहा जा सकता है उसी को तर्क द्वारा घटना-प्रधान भी सिद्ध किया जा सकता है। दोनों के निर्णय में

दृष्टिकोण का अन्तर रहेगा।

यदि 'ग़बन' का प्रमुख आधार—रमानाथ की आत्म-प्रशंसा और अपने को बढ़ा चढ़ा कर जालपा को प्रभावित करने की कमज़ोरी मानें तो 'ग़बन' पात्र-प्रधान कहलायेगा क्योंकि समस्त घटनाएँ रमानाथ की इसी प्रकृति के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न होती हुई दिखाई जा सकेंगी। पात्र ही जब सब घटनाओं का उत्तरदायी होगा तो उपन्यास को पात्र-प्रधान रहना ही पड़ेगा।

यदि 'ग़बन' का प्रमुख आधार लड़कपन में खेलती हुई जालपा के सामने घटित होने वाली उस घटना को मानें जिसके कारण बिसाती के पास झूठा नौलखा हार देखकर उसके मन में भी वैसा ही हार पहनने का इच्छा जागृत हुई थी तो पता चलेगा कि विवाह के उपरान्त हार पाने की निरन्तर अभिलाषा ने ही जालपा को इसके लिए विवश किया कि वह रमानाथ को हार लाने के लिए मजबूर कर दे। इस मजबूरी से ही सारी घटनाओं की सृष्टि हुई और इस मजबूरी के मूल में जालपा की मनोकामना थी जो स्वयं अकस्मात् बिसाती के आ जाने के कारण उद्भूत हुई थी। अतएव ऐसी अवस्था में बिसाती का आना और जालपा का उसके पास हार देखना ही 'ग़बन' की मूल घटना है और इस आधार पर वह घटना-प्रधान कहलाने का अधिकारी है।

इ. विषय के दृष्टिकोण से।

१. सामाजिक—समाज और उसके जीवन से सम्बन्ध

रखने वाले उपन्यास । ये उपन्यास किसी संप्रदाय-विशेष अथवा वर्ग-विशेष के जीवन का चित्रण करने के लिए लिखे जाते हैं जैसे 'रंगभूमि,' 'कर्मभूमि,' तथा 'कंकाल' और 'तितली'। कभी इन उपन्यासों का विषय जातियों और मतानुयायियों के बीच मनुष्यता के व्यापक सम्बन्ध पर जोर देना होता है जैसे राधिकारमणप्रसादसिंह का 'राम-रहीम' अथवा समाज के पाखण्डपूर्ण और कुत्सित पक्ष का उद्घाटन होता है जैसे 'दिल्ली का दलाल', 'सरकार हमारी आँखों में' अथवा 'बुधुवा की बेटी।'

२. ऐतिहासिक—ऐतिहासिक आख्यानों से सम्बन्ध रखने वाले उपन्यास जिनमें इतिहास का इतिवृत्त तो होती ही है साथ में उपन्यासकार की कल्पना उसमें चार चाँद लगा देती है। देश-काल का चित्रण इनकी विशेषता होती है और उसी के चित्रण पर सफल तथा असफल उपन्यास माना जाता है। वृन्दावनलाल वर्मा के दो उपन्यास 'गढ़कुंडार' और 'विराटा की पद्मिनी' इसी कोटि के हैं। एक को शुद्ध ऐतिहासिक उपन्यास कहा जा सकता है और दूसरे को 'ऐतिहासिक प्रेमाख्यानक उपन्यास'।

३. यथार्थवादी—जो जीवन की केवल-मात्र वास्तविकताओं के नाम-प्रकाशन और अंकन पर जोर देते हैं जैसे यशपाल की कृतियाँ।

४. आदर्शवादी—जो जीवन में एक आदर्श की उपयोगिता

को मानकर लिखे जाते हैं।

५. मनोवैज्ञानिक—जिनमें मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की प्रधानता रहती है। परन्तु शुद्ध रूप में ऐसा उपन्यास हिन्दी में नहीं है।

हिन्दी उपन्यासों का वर्गीकरण : उनका साहित्यिक सौंदर्य

हिन्दी-साहित्य की मूल प्रेरणाओं का स्रोत संस्कृत-साहित्य है। संस्कृत के आख्यान-साहित्य में समाज-नीति, राज-नीति, धर्मनीति एवं दर्शन जैसे गंभीर विषयों का सरल और सुगम रीति से समावेश किया गया है। मनोरंजन के निमित्त जीवन की मोटी-मोटी परन्तु व्यावहारिक बातों पर भी यथेष्ट प्रकाश डाला गया है। पंच-तन्त्र, हितोपदेश, वेतालपंचविंशति, सिंहासनद्वाविंशिका, शुकसप्तति, कथासरित्सागर, बृहत्कथा, बृहत्कथामंजरी, कादम्बरी आदि आख्यान-साहित्य की सृष्टि में यही विचारधाराएँ प्रधान हैं।

हिन्दी के आख्यान-साहित्य में भी आरंभ में पौराणिक और धार्मिक आख्यानों की ही प्रधानता रही। आरंभ में उपन्यास की अपेक्षा कथा-कहानियाँ अधिक लिखी गईं अथवा अन्य भाषाओं से उनका अनुवाद हुआ। सब से पहिला उपन्यास भारतेन्दु द्वारा लिखित 'पूर्ण प्रकाश और चन्द्रप्रभा'[1] था। यह एक सामाजिक उपन्यास है जिसमें लेखक ने वृद्ध-

---

१. आधुनिक हिन्दी साहित्य, पृ० ६४, डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

विवाह की प्रथा के प्रति कठोर आवाज़ उठाई है और लड़के लड़कियों की शिक्षा का प्रतिपादन किया है। प्राचीन और प्रगतिशील विचारों का संघर्ष इसमें है परन्तु अन्त मे विजय प्रगति-शीलता की ही होती है। इस प्रकार सामाजिक कुरीतियों के विनाश में उपन्यास का जन्म हुआ और यह परम्परा किशोरीलाल गोस्वामी, देवीप्रसाद शर्मा, राधाचरण गोस्वामी; कार्तिकप्रसाद खत्री एवं गोपालराम गहमरी के उपन्यासों में चलती रही। कुछ दिनों के पश्चात् गहमरी जी ने एक नई ही शाखा की ओर अपना क़दम बढ़ाया। किशोरीलाल गोस्वामी ने, वैष्णव होते हुए भी, 'स्वर्गीय-कुसुम' में देवदासी-प्रथा का विरोध किया है, लवंग-लता' और 'कुसुम कुमारी' में मुसलमानों के अत्याचारों के होने पर भी अपने धर्म और आचरण को बचाने वाली दो वीरांगनाओं का बड़ा रोचक वर्णन है। गहमरी जी ने अपने उपन्यासों में गृहस्थ-जीवन और पाश्चात्य सभ्यता के घातक परिणामों की ओर ध्यान आकृष्ट किया है।

उपरोक्त उपन्यासों में शौर्य, प्रेम. चरित्र की उच्चता और कार्य-व्यापार का दिग्दर्शन है। लेखकों को अपने देश और उसकी ललनाओं पर गर्व है परन्तु अपने समाज की बुरी व्यवस्था और कु-संस्कारों की ओर से वे आँखें बन्द नहीं कर सके हैं। उनके कथन में प्रवाह है और भाषा में शक्ति है। आगे चलकर बालकृष्ण भट्ट, श्रीनिवासदास आदि ने शिक्षा-प्रद उपन्यास लिखे। सामाजिक और धार्मिक सुधार, गुण-

दोषों का ठीक २ विवेचन, नैतिक अनुशासन तथा जीवन को उन्नति की ओर अग्रसर करने वाले उपादानों का इन उपन्यासों में वर्णन है परन्तु कला की दृष्टि से एक खटकने वाली बात यह है कि लेखक अपने प्रदिपादित विषय में इतने तल्लीन होगए हैं कि उन्होंने उपन्यास-कला को भुला ही दिया है। उनके उपन्यासों में कथा-वस्तु का सुन्दर संगठन, चरित्र का स्वाभाविक विकास और कथोपकथन की मार्मिकता नहीं आने पाई है। वे अपना संदेश पाठकों तक पहुँचा पाये हैं परन्तु कलात्मक ढंग से नहीं। उन्होंने कला की अपेक्षा शिक्षा और नैतिकता को अधिक ऊँचा स्थान दिया है।

भारतेन्दु-काल के उपन्यासों की दूसरी धारा तिलिस्म ऐय्यारी और जासूसी उपन्यासों की धारा है। यह धारा घटना-वैचित्र्य-प्रधान है। देवकीनन्दन खत्री को अपने तिलिस्म एवं ऐय्यारी के उपन्यासों में बड़ी सफलता मिली है। 'चन्द्रकान्ता', 'चन्द्रकान्ता-सन्तति', 'कुसुम-कुमारी' तथा 'वीरेन्द्र वीर' उनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं। प्रेमी राजकुमार और राजकुमारियों के विरोधियों के षडयन्त्र तथा तिलिस्म और ऐय्यारी के हथकंडों को देखकर बड़ा ही आश्चर्य होता है। ऐय्यारी और जासूसी द्वारा प्राप्त विजय किसी भी प्रकार अहिंसात्मक विजय से कम महत्त्वपूर्ण नहीं। तिलिस्म की दुनिया तो वास्तव में एक नया संसार सामने लाकर रख देती है। रत्नों से भरे खज़ाने, ज़रा-सी देर में, आँखों को चकाचौंध कर डालते हैं परन्तु कथानक

कहीं भी शिथिल नहीं होने पाता। इसी में देवकीनन्दन जी की सबसे बड़ी सफलता है। बड़ी से बड़ी ऐय्यारी दो प्रेमी हृदयों को तोड़ने में सफल नहीं हो पाती। प्रेम से उत्पन्न भावावेश और विरह-जन्य व्याकुलता में मानव-हृदय की पीड़ा के सुन्दर और मनोरम दृश्य खत्री जी ने अपनी रचनाओं में दिए हैं।

हिन्दी के उपरोक्त लेखकों एवं उनके समकालीन अन्य उपन्यासकारों में जहाँ नैतिकता और शिक्षा की प्रधानता है, वहाँ प्रेम-तत्त्व का भी विशेष अभाव नहीं है। परन्तु उन्होंने जीवन के सभी पहलुओं पर विचार नहीं किया है। उन्होंने अपने युग-कालीन सामाजिक जीवन के किसी अंग-विशेष को लेकर उसके गुण-दोषों की मर्मभेदी विवेचना की है, वे जीवन की जटिलताओं में नहीं फँसे। यह सब उनके युग की आत्मा का परिणाम था। देश जिस परिवर्तन की अवस्था से गुजर रहा था, उसका ध्यान रखते हुए उन्हें अपनी राष्ट्रीय-भावना को दृढ़ करना था और यह तभी संभव हो सकता है जब समाज अपने कुसंस्कारों का त्याग कर सन्मार्ग की ओर अग्रसर हो। नैतिकता का यही आदेश उनकी कृतियों में मिलता है।

इन लेखकों ने अपने रचना-विधान में कथोपकथन का सबसे कम व्यवहार किया है। लेखक स्वयं घटनाओं का वर्णन करता हुआ चलता है। वह पात्रों के चरित्र का विश्लेषण कर उनके मानसिक पक्ष पर प्रकाश नहीं डालता। परिणाम यह होता है कि पात्र स्वयं विकास को प्राप्त होते हुए दिखाई नहीं देते

वरन् लेखक के हाथ की कठपुतली के समान काम करते हुए नज़र पड़ते हैं।

भाषा इन उपन्यासों में तीन प्रकार की पाई जाती है। किशोरीलाल जी के उपन्यास संस्कृत-गर्भित हिन्दी में लिखे गए हैं, देवकीनन्दन खत्री के उपन्यासों में साधारण बोल-चाल की मिश्रित भाषा का प्रयोग हुआ है और तीसरी श्रेणी के लेखक वे हैं जो कृत्रिम भाषा से अपनी रचनाओं को दुराग्रह-पूर्वक सुन्दर बनाना चाहते हैं—देवीप्रसाद शर्मा तथा जैनेन्द्र-किशोर का नाम इसी श्रेणी में आ सकता है। देवकीनन्दन जी की भाषा के कारण जो प्रसिद्धि उनके उपन्यासों की हुई उसी कारण, प्रसिद्ध हैं, अनेक उर्दू पढ़े-लिखों ने भी चन्द्रकान्ता पढ़ने के उद्देश्य से हिन्दी सीखी।

संक्षेप में भारतेन्दुकालीन उपन्यासों (१८५०-१९०० ई०) के प्रधान लक्षण निम्नलिखित थे—

१. विषय सामाजिक सुधार और मनोरंजन था।

२. रूप-विधान या कला-विधान सीधा और सरल था।

३. भाषा—तीन प्रकार की थी

(अ) संस्कृत-गर्भित

(आ) साधारण बोल-चाल की भाषा

(इ) कृत्रिम भाषा

४. अंग्रेजी, बँगला और गुजराती के अनुवादों में पर्याप्त स्वच्छंदवाद (Romance) था जिसका प्रभाव हिन्दी उपन्यासों

पर भी पड़ा।

५. उपन्यासों को (क) तिलस्मी (ख) साहसिक (ग) जासूसी (घ) प्रेमाख्यानक (ङ) ऐतिहासिक, भागों में विभाजित किया जा सकता है। ये भेद घटना-प्रधान उपन्यासों के हैं।

हिन्दी-उपन्यासों का और अधिक पुष्ट कलात्मक विकास बीसवीं शताब्दी के आदि से आरम्भ हुआ। इस काल में भारतेन्दु-युग की प्रायः सभी धाराएँ प्रवाहित रहीं। केवल तिलस्मी और जासूसी उपन्यासों की पढ़ने वाली संख्या में कुछ कमी हो गई और इस प्रकार के उपन्यासों का लिखा जाना भी कम हो गया। गहमरी जी के 'हत्या का रहस्य', 'गेरुआ बाबा', 'मेम की लाश' और 'जासूस की जवानी' प्रस्तुत काल की कुछ लोक-प्रिय रचनाएँ हैं। जासूसी उपन्यासों का जितना प्रचार अंग्रेजी पढ़ी-लिखी मध्यम-वर्ग और निम्न-वर्ग की जनता में रहा वैसा हिन्दी जनता में नहीं आया था। वास्तव में देखा जाय तो जासूसी वैज्ञानिक दृष्टिकोण की सर्वोत्तम प्रतिनिधि है। उसमें वस्तु का सूक्ष्म निरीक्षण होता है और जासूसी का लेखक प्रतीति के पर्दे में छिपे हुए सत्य का अन्वेषण करता है परन्तु संभवतः भारतीय प्रकृति का रुझाव विज्ञान की अपेक्षा दर्शन की ओर अधिक होने के कारण यह धारा अधिक वेगवती न बन सकी।

तिलिस्मी उपन्यासों का भी शैथिल्य इसलिए रहा कि तिलस्म की सृष्टि में जिस अद्भुत कौशल, अनोखी सूझ और

ऊँची उड़ान भरने वाली कल्पना की आवश्यकता होती है वह इस युग के लेखकों में पर्याप्त मात्रा में न थी। कुछ यह भी था कि बुद्धिवादी युग की माँग जीवन के ठोस पहलुओं के चित्रण के प्रति अधिक हो गई और साधारण पढ़े-लिखों के जीवन-स्तर के विकास के साथ उनकी मानसिक भूख के स्वरूप में भी उन्नति के चिह्न आ गए। अब झोला लिए हुए ऐय्यारों की आवश्यकता इतनी न रह गई जितनी उन साहसिक पात्रों की, जो विरोधी परिस्थितियों से सामने डट कर लोहा ले सकें। कामिनी और कंचन को प्राप्त करने में जिस साहस की आवश्यकता होती है उसे दिखाने वाले चारों ओर डाकुओं तथा उनका पीछा करने वाले पुलिस अफ़सरों और कुशल कार्यकर्ताओं की आवश्यकता की अपेक्षा कुछ थोड़े-से क्रान्तिकारी सशस्त्र महावीरों के लिए यह काल अवश्य उपयुक्त रहा। मातृभूमि को स्वतंत्र करने के लिए एक प्रकार की गुप्त संस्था के अनुयायियों के कार्य-क्षेत्र का विवरण 'रक्त-मंडल' जैसे उपन्यास में मिलता है। आगे चलकर जो अहिंसात्मक सत्याग्रह आन्दोलन हुआ उसने क्रान्तिकारियों को विस्मृति के गर्त में ढकेल दिया।

ऐतिहासिक उपन्यास हिन्दी में लिखे गए। ऐसा उपन्यासों में दो बातों की विशेष आवश्यकता होती है।

(१) उपन्यास में जिस युग एवं देश या प्रान्त का कथानक हो उस युग और प्रान्त की संस्कृति, सामाजिक और राजनीतिक परिस्थिति, रहन-सहन, चाल-ढाल, भाषा, तीज-त्यौहार आदि

सभी का पूर्ण ज्ञान लेखक को होना चाहिए।

(२) लेखक में एक अपूर्व कल्पना शक्ति होनी चाहिए जिसके आधार पर वह कथानक गढ़ सके एवं जीवन के सर्वांगीण चित्र तथा मानव-जीवन की अतिरंजित भावनाओं को अंकित करने में समर्थ हो सके।

हिन्दी-साहित्य की इस दशा में सफलता केवल वृन्दावन-लाल वर्मा को ही मिली है। 'गढ़कुण्डार' और 'विराटा की पद्मिनी' उनकी सफल रचनाएँ हैं। जिस प्रकार अंग्रेजी में हार्डी ने वेसेक्स (Wessex) उपन्यास एक भूभाग की संस्कृति के आधार पर लिखे हैं उसी प्रकार वर्मा जी ने भी बुंदेलखण्ड की संस्कृति का चित्रण किया है। अतएव इस अर्थ में उनके उपन्यास 'बुंदेलखण्डी उपन्यास' हैं।

पौराणिक उपन्यास जनता की माँग का विशेष कारण थे। 'सती सीता', 'वीर कर्ण' आदि की रचना जनता की माँग का प्रत्यक्ष स्वरूप थी। यह जनता कुछ अधिक पढ़ी न थी। वह उन श्रेणियों से भी भिन्न थी जिसमें अंग्रेजी पढ़े-लिखे हिन्दी भाषा, हिन्दी-साहित्य और जो कुछ भारतीय या उस सभी से नाक-भौं सकोड़ कर तथा अकलात्मक कहकर उसका तिरस्कार करने वाले सम्मिलित थे अथवा जिसमें बहुसंख्या उन संस्कृतज्ञ महानुभावों की थी जो हिन्दी नहीं जानते थे और संस्कृत के महाभारत, पुराण आदि के उपासक और उन्हीं को जीवन का सर्वस्व उद्घोषित करने वाले थे। पौराणिक उपन्यासों में

साहित्यिक भाषा और रूप के अतिरिक्त और कोई अन्य मौलिकता न थी। पौराणिक पुरुष और स्त्रियों के आदर्श इनमें अंकित किये गए हैं जिससे भारत के नर-नारी उनका अनुकरण कर सत्पथ की ओर अग्रसर हो सकें।

चरित्र-प्रधान उपन्यासों की रचना इस काल में विशेष रूप से हुई। आरंभ में यह धारा दो प्रकार के उपन्यासों से शक्ति ग्रहण करती थी—

१. उपदेशात्मक पौराणिक उपन्यास–जिनकी चर्चा ऊपर हो चुकी है।

२. प्रयोगात्मक उपन्यास—इनका कथानक सामयिक सामग्री से लिया जाता था।

मन्नन द्विवेदी का 'रामलाल' एवं शिवपूजनसहाय की 'देहाती दुनिया' इस दिशा के सराहनीय प्रयत्न हैं।

कला की दृष्टि से इनमें कथावस्तु सौंदर्य और चरित्र-चित्रण का अभाव है। इनके लेखकों के पास चरित्र का कोई शक्तिशाली मेरुदंड नहीं है। परिणाम-स्वरूप चरित्र केवल-मात्र रेखा-चित्र (Sketches) अथवा व्यंग्य-चित्र (Caricatures) रह गए हैं। 'देहाती दुनिया' में दारोग़ा जी को देखिए—

"दारोग़ा जी के किसी पुश्त में दया की खेती नहीं हुई थी। उनके पिता पटवारी थे। पटवारी भी कैसे? ग़रीबों की गर्दन पर अपनी क़लम टेकने वाले। उनकी क़लम की मार ने कितनों

की कमर तोड़ दी थी, कितने बिना नाधा पैना के हो गए थे, कितनों का देस छूट गया था, कितनों के मुँह के टुकड़े छिन गए थे ?"

यद्यपि इन उपन्यासों का अधिक मूल्य नहीं है परन्तु आगे आने वाले चरित्र-प्रधान उपन्यासों की रचना में इन प्रयोगों से बड़ी सहायता मिली।

वास्तविक कलापूर्ण चरित्र-प्रधान उपन्यासों का श्रीगणेश प्रेमचन्द के 'सेवा-सदन' (१९१८) से हुआ। प्रेमचन्द के उपन्यासों में हमें व्यक्तिगत चरित्र भी मिलते हैं और प्रतिनिधि-चरित्र भी। पहले के चरित्र-प्रधान उपन्यासों में सभी प्रेमी एक से थे और सभी ऐय्यार समान रूप से चतुर थे। जो दाँव-पेंच में मार खा जाता था उसी की हार हो जाती थी। परन्तु प्रेमचन्द और उनके समकालीन लेखकों के उपन्यासों में व्यक्तिकरण होते हुए भी समानता की अपेक्षा असमानता अधिक है। उनके पात्रों की बात-चीत, रहन-सहन, चाल-ढाल में व्यक्तिगत विशेषताएँ हैं परन्तु साथ ही कुछ चित्र ऐसे भी हैं जो उस प्रकार के सभी व्यक्तियों के प्रतिनिधि हैं। प्रेमचन्द जी का 'होरी' किसान होते हुए भी 'किसानों का प्रतिनिधि' है। कौशिक जी की 'माँ' में 'घासीराम' बनियों का प्रतिनिधि है और 'श्याम-नाथ' उन बालकों का प्रतिनिधि है जो माँ के लाड़-प्यार से अथवा अधिक धन के कारण बिगड़ जाते हैं।

धीरे-धीरे इन उपन्यासों में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की

मात्रा और अधिक होने लगी। जैनेन्द्र और वात्सायन ने इस ओर विशेष रूप से क़दम बढ़ाया। 'शेखर' की सफलता वात्सायन की गौरव-पूर्ण सफलता है।

भाव-प्रधान उपन्यास हिन्दी में कम लिखे गए। प्रसाद का 'कंकाल' सामाजिक पृष्ठभूमि और उसके दृश्यों से ओत-प्रोत होते हुए भी भाव-प्रधान है। व्रजनंदन-सहाय का 'सौंदर्योपासक' और 'हृदयेश' जी की 'मनोरमा' ऐसे ही भाव-प्रधान उपन्यास हैं। भाव-प्रधान उपन्यासों में गति-शीलता बहुत ही कम रहती है, थोड़ी-सी घटनाएँ रहती हैं। उपन्यासकार का ध्यान चरित्रों की भावनाओं तथा हृदयोद्रेकों की स्पष्ट और कवित्वपूर्ण व्यंजनाओं में रहता है। 'कंकाल' की 'घंटी' की उक्ति देखिए—

"हिन्दू स्त्रियों का समाज ही कैसा है; उसमें कुछ अधिकार हो तब तो उसके लिए कुछ सोचना-विचारना चाहिए। और जहाँ अन्ध अनुसरण करने का आदेश हो, वहाँ प्राकृतिक स्त्री-जनोचित प्यार कर लेने का जो हमारा नैसर्गिक अधिकार है—जैसा कि घटनावश प्रायः स्त्रियाँ किया करती हैं—उसे क्यों छोड़ दूँ"।

इसी प्रकार दुखभार से दबी हुई 'यमुना' कहती है—

"मैंने केवल एक अपराध किया है। वह यही कि प्रेम करते समय साक्षी नहीं इकट्ठा कर लिया था और कुछ मंत्रों से कुछ लोगों की जीभ पर उसका उल्लेख नहीं करा लिया था, पर

करती हूँ"।

भाव-प्रधान उपन्यासों में इस प्रकार की गीति-पूर्ण उक्तियाँ ही उसकी जान होती हैं। उन्हीं का बल और शक्ति-प्रदर्शन करने के लिए उपन्यास का ढाँचा तैयार किया जाता है। कवित्तपूर्ण प्रकृति का चित्रण इसी भावोन्मेष के लिए होता है। साधारण-तया यही कवितापूर्ण विधान भाव-प्रधान उपन्यास का संबल बनता है।

भाव-प्रधान उपन्यासों में एक दोप रह जाने का बड़ा डर होता है। कभी-कभी लेखक उसमें अपने पांडित्य-प्रदर्शन में लग जाता है। काल, पात्र और स्थान के प्रतिकूल भी कुछ वाद-विवाद इसी प्रदर्शन के हेतु रख दिए जाते हैं। लेखक उस अवस्था में अतिरंजित चित्रांकण से अपने को पृथक् नहीं कर सकता। जहाँ यह अध्यात्म-ज्ञान और नैतिक-शिक्षा का अध्याय खुला और पाठक की रुचि ने उपन्यास के प्रति विद्रोह किया। अतएव इन प्रसंगों को सावधानी से लिखने की व्यवस्था आवश्यक है।

हिन्दी उपन्यासों की वर्तमान धारा फ्रायड और मार्क्सवाद से प्रभावित होती जा रही है। आस्कर वाइल्ड के विचारों ने उसमें पर्याप्त काम-भावना (Sex) भर दी है। परन्तु यह प्रयोगात्मक-काल का साहित्य है अतएव न इसके स्वरूप के विषय में ही कुछ कहा जा सकता है और न उनके रूप-विधान के हेतु कोई सिद्धान्त प्रतिपादित हो सकता है। केवल भविष्य ही इसका निर्णय कर सकेगा।

कहानी

कहानी मानव जीवन का आवश्यक अंग है। वह मनोरंजन का साधन है और नीति की सांकेतिक संदेश-वाहिका। मनुष्य तो मनुष्य, पशुओं द्वारा भी कहानी कहलाने की योजना माननी मस्तिष्क की अभूतपूर्व देन है। पंचतंत्र और ईसप की कहानियाँ इसका ज्वलन्त प्रमाण हैं कि मनुष्य की रुचि कहानियों में कितनी अधिक है। धर्म के प्रचार और शिक्षा के साधन रूप में भी सिंहासन-बत्तीसी, वैताल-पच्चीसी, कथा-सरित्सागर जैसे साहित्यिक ग्रन्थों का निर्माण किया गया। शेख़ सादी ने 'गुलिस्ताँ' और 'बोस्ताँ' की रचना करके फ़ारसी भाषा में कहानियों की मर्यादा रखी। उनके उपदेश इतने सुन्दर और मनोहर हैं कि चिरकाल तक प्रेमियों के हृदय उनकी सुरभि से सौरभित होते रहेंगे।

कहानी का जन्म पूर्व में हुआ और वहीं उसका पूर्ण विकास भी। परन्तु इस 'पूर्णता' में पूर्व का दृष्टि-कोण ही सर्वोपरि था। पश्चिम में जाकर उसका जो रूप बदला वह अधिकांश में वहाँ के वातावरण और वहाँ के विभिन्न युगों की साहित्यिक माँग का परिणाम था। अब अपनी समुद्र-यात्रा के पश्चात् कहानी फिर पूरब को लौटी है। अपने इस रूप में वह कुछ गँवा कर आई है तो कुछ लेकर भी। पश्चिम की कहानियों में विशेषकर अंग्रेजी कहानियों में कथा-वस्तु बड़ी फूहड़ है। उनकी उत्कृष्टता चरित्र-चित्रण में है, कथोपकथन की तीव्रता और सामयिकता

में है तथा वातावरण के सूक्ष्म वर्णन में है। कथा-वस्तु के विषय में तो कुछ आलोचक यहाँ तक कहने लगे हैं कि कहानी में वह आवश्यक तक नहीं। उनका कहना है कि कहानीकार किसी एक विचार (Idea) को लेकर अवश्य चलता है परन्तु उसके विकास का कोई पूर्व-रचित ढाँचा उसके मस्तिष्क में नहीं रहता। कहानी की घटनाएँ स्वयं विकसित होकर कहानी की सृष्टि कर डालती हैं। ऐसी कहानी में फिर कथा-वस्तु का कोई विशेष स्थान ही क्या ? परन्तु इस मत के प्रतिपादन करने वाले यह भूल जाते हैं कि प्रत्येक साहित्यकार, चाहे वह किसी भी साहित्यांग के माध्यम से अपने को अभिव्यंजित करे, अपनी अनुभूतियों का पहले संचय करता है, फिर विश्लेषण द्वारा उनमें से ग्राह्य तथा अग्राह्य का चयन करता है। जब जीवन के भिन्न अथवा किसी एक अंग के सम्बन्ध में अपनी चुनी हुई अनुभूतियों के आधार पर वह एक निर्णय कर लेता है, तभी तत्सम्बन्धी तीव्रतम संवेदनाएँ साहित्य के रूप में बाहर आने के लिए व्यग्र हो उठती हैं। ऐसी अवस्था में वह अपनी कला द्वारा उनको साकार रूप देता है।

कलाकार की इस मानसिक-संभूति में जो अदृश्य रूप-रेखा रहती है वही तो उसकी कृति को मूर्तिमान् बनाती है। अतएव यह कहना कि लेखक बिना किसी रूप-रेखा के अपनी कहानी लिखता है, वस्तुतः सत्य नहीं है। जो आलोचक लेखक के मस्तिष्क की गति प्रगति का अध्ययन करने का कष्ट नहीं उठाते

उन्हीं के द्वारा ऐसी बात कही जाती है।

कहानी क्या होती है ? किसे कहानी कहना चाहिए ? आदि कुछ स्वाभाविक मौलिक प्रश्न हैं। विद्वानों ने इनके उत्तर पृथक् २ रूप से दिए हैं।

कहानी साहित्यिक अभिव्यक्ति की एक शैली है। साहित्य की उपादान सामग्री, जीवन के गतिशील व्यापारों की सजीवता के साथ, साहित्य की आत्मा को उसमें प्रतिष्ठित कर जब एक कथा का आवरण पहन लेती है तो 'कहानी' का जन्म होता है। कहानी हमारे सामने एक ऐसा व्यूह रच देती है जिसमें पड़कर हम राग और ज्ञान तथा हृदय और मस्तिष्क एवं आत्मा तथा शरीर सभी युग्मों का अनुभव और परिचय प्राप्त करते हैं। काव्य अधिकांश में मानव की रागात्मिका वृत्ति से संवृत रहता है, निबन्ध में उसके मस्तिष्क की विचार-प्रतिभा का दर्शन मिलता है परन्तु कहानी में इन सब से संयुक्त मानव की प्राप्ति होती है।

कहानी और जीवन

हमारा जीवन असीम है, उसके अनुभव और परिणाम भी अनन्त हैं। यही कारण है, सब कुछ अपनी आँखों से देखते हुए भी, हमें वह बात दिखाई नहीं देती जो प्रेमचन्द, कौशिक, प्रसाद और जैनेन्द्र या गर्ग ने देखी है, अथवा जिसकी पर्यालोचना शरत्चन्द्र और रवीन्द्रनाथ ने की है। कहानी 'जीवन की पुनरावृत्ति' नहीं कही जा सकती। वह तो एक प्रकार से

'जीवन की नूतन सृष्टि है, उसका पुनर्जन्म है'। वह ऐसी सृष्टि है जिसमें वास्तविक जीवन की सारी बातें नहीं होतीं परन्तु कहानी के जीवन में एक ऐसा सम्बन्ध-तत्त्व प्रभासित होता है जिससे यह मालूम हो जाता है कि जीवन का सार-तथ्य क्या है ? समस्त जीवन को परख कर, उसे आँक कर जो सत्य निकाला जा सकता है उसी का समावेश उसमें होता है।

समय-समय पर ऐसे ग्रन्थों का निर्माण होता रहता है जो वास्तविक सत्य घटनाओं से सम्पन्न रहते हैं और जिनके अन्दर प्रत्येक विषय से संबंध रखने वाली सूक्ष्म जानकारी का समावेश होता है। परन्तु इस प्रकार के ऐतिहासिक विवरणों का प्रभाव हमारे ऊपर कम ही पड़ता है। किसी मुक़दमे की शहादत-मात्र पढ़ लेने से ही उसका फ़ैसला नहीं किया जा सकता। उसके द्वारा मुक़दमे सम्बन्धी कुछ तथ्यों (Facts) से आवश्यक जानकारी हो जाती है परन्तु वास्तविकता और सचाई के लिए और अधिक जानकारी आवश्यक होती है।

जीवन की प्रत्येक घटना का एक दूसरे से सम्बद्ध हो, यह आवश्यक नहीं है। अनुभव अनेक प्रकार के होते हैं और भिन्न-भिन्न समय पर होते हैं। सब का कारण भी एक नहीं होता। परन्तु आख्यान में वर्णित घटनाएँ सम्बद्ध होती हैं। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि कहानी के प्रत्येक पात्र की घटनाएँ और कार्य-व्यापार सदैव एक-सा ही व्यवहार प्रगट करें, वरन् इसका मतलब यह है कि कहानी की समाप्ति तक प्रत्येक पात्र

के असम्बद्ध विचार किसी एक उद्देश्य की पूर्ति ही में निहित हो जाने चाहिएँ।

इस प्रकार जीवन में पाई जाने वाली बिखरी हुई धारणाओं में किसी सम्बंध-सूत्र की खोज करना, निराकार को साकार का रूप देना, जीवन में से केवल उन्हीं तत्त्वों को लेना जिनसे सार्थकता का स्वरूप खड़ा हो सके, कहानी-लेखक का 'उद्देश्य' कहा जाता है।

चित्र सम्पूर्ण हो—उसमें किसी प्रकार का अभाव दिखाई न दे—तथा विचारों एवं कार्य-व्यापारों में संघटन हो, ये दो बातें कहानी-कला में परमावश्यक हैं यद्यपि वास्तविक जीवन में नहीं पाई जातीं। वास्तविक जीवन में अपनी प्रेम-भावना को कौन इतना महत्त्व देता है जितना लहनासिंह[1] ने दिया; वेश्याओं के मन में कब ऐसे परिवर्तन की उत्कट अभिलाषा उद्भूत होती है जैसी सुमन[2] के मन में हुई। और इस आधार पर देखें तो आख्यान-काव्य सत्य को प्रगट करने वाला नहीं माना जा सकता। इच्छा-मात्र और उसे कार्य-रूप देने में कितना अन्तर रहता है? कहानी द्वारा लेखक हमारे सामने एक ऐसे जीवन की सृष्टि करता है, जिसमें परिस्थिति के प्रतिकूल भावों का बहिष्कार कर दिया गया हो।

---

१. 'उसने कहा था' कहानी; गुलेरी जी कृत।

२. सेवा-सदन; प्रेमचन्द कृत।

अनेकता में एकता का सम्पादन कर वह उसे इस योग्य बनाता है कि जीवन की जटिलता का ज्ञान भी हमें प्राप्त हो सके और उसके विषय में हम एक 'निर्णय' कर सकें। समाज का, व्यक्ति का अथवा कुछ व्यक्तियों का एक सजीव चित्र हमारे सामने कहानीकार लाकर रख देता है और हमें बाध्य करता है कि उस चित्र को ध्यान से पढ़कर उसके ऊपर सोचें।

इस प्रकार सोची हुई धारणाएँ अधिकांश में वही होंगी जो लेखक की हैं, लेखक ने अपने अनुभवों के आधार पर जो मत निर्धारण किया है और जिसका बलशाली प्रतिबिम्ब उसने अपनी कहानी में दर्शाया है, उसी के समान पाठक भी बनता जाता है। उदाहरण के लिए कुछ कहानी लीजिए। नैनीताल के शीतकर वातावरण में, सुख की अभिलाषा से समय व्यतीत करने वाले भारतवासियों को, संभव है वहाँ का सूर्यास्त या प्रमोद-गृहों में से आने वाली मधुर ध्वनि आकर्षित कर ले। उस प्रदेश के सम्बन्ध में उनका कदाचित् यही अनुभव हो कि नैनीताल में आकर, चाहे थोड़े दिनों के लिए ही सही, सरकारी अफ़सरों से हाथ मिलाने में आनन्द है। परन्तु उसी वातावरण में 'अपना-अपना भाग्य' जैसी कहानी भी प्रसूत हो सकती है। अमृतसर के व्यवसायी नगर में कितने यात्री बंबूकार्ट पर चढ़कर तंग बाज़ारों से प्रतिदिन निकलते हैं परन्तु उसी स्थान पर एक घटना 'उसने कहा था' की भी सृष्टि कर सकती है। भीड़-भाड़ में धक्का लगना, कभी-कभी किसी बच्चे का खो

जाना, साधारण घटनाएँ हैं। परन्तु ये सबके अनुभव समान नहीं होते। उनके कारण भी पृथक्-पृथक् हो सकते हैं। ठीक समय पर सहायता न पाने के कारण छत से गिरने पर एक बालक अपने प्रति अपनी ताई के विद्वेषपूर्ण भाव को अतुल प्रेम-भाव में परिणत कर सकता है—इस परिणाम पर कौशिक जी 'ताई' में बड़े स्वाभाविक ढंग से पहुँचे हैं। "महावीर ने उसका तमतमाया हुआ चेहरा देखकर पूछा—'क्या है मुलिया? आज कैसा जी है'? मुलिया ने कुछ जवाब न दिया—उसकी आखें डबडबा गईं"।[1] लेखक मुलिया के पूर्व इतिहास की ओर ध्यान नहीं देता। वह कहाँ पैदा हुई, किस प्रकार महावीर से उसका विवाह हुआ आदि प्रश्न और इनके उत्तर उसके लिए व्यर्थ हैं। वह तो केवल वर्तमान परिस्थिति का कारण खोज कर पाठक के सामने रखना चाहता है और तत्पश्चात् उस समस्या को उपस्थित कर हमें किसी निर्णय पर ले जाना चाहता है। प्रेमचन्द जी ने देखा 'जवानी जोश है, बल है, साहस है, दया है, आत्म-विश्वास है, गौरव है और वह सब कुछ है जो जीवन को पवित्र, उज्ज्वल और पूर्ण बना देता है।' इसी सत्य को उन्होंने मुलिया में पाया और उसके तमतमाते हुए चेहरे के कारण छान डाले। चैनसिंह की उत्पत्ति कहानी में इसी कारण हुई। संभव है इतिहासकार इस घटना के कारणों की समीक्षा किसी अन्य प्रकार से करता, परन्तु प्रेमचंद उसे घृणा का पात्र

१. घास वाली; प्रेमचन्द कृत

न बनाकर आकर्षण का उपादान बनाकर ही हमारे सामने रखते हैं। चैनसिंह का परिवर्तन स्वाभाविक है। 'कामिनी के शब्द जितनी आसानी से दीन और ईमान को ग़ारत कर सकते हैं, उतनी ही आसानी से उसका उद्धार भी कर सकते हैं'।

संभव है हमारा परिणाम सदैव उचित न हो क्योंकि देखा जाता है कि प्रायः हुआ वही करता है जो लेखक चाहता है। अतएव परिणाम का विधायक केवल अनुभव नहीं मनःप्रकृति भी होती है। दोनों का समावेश कर कलाकार जीवन के किसी सार्थक तत्त्व को ढूँढ कर उसका उद्घाटन पाठक के सामने कहानी द्वारा करता है और यह उद्घाटन अपने चित्रांकन में इतना सजीव एवं तर्कबद्ध होता है कि पाठक उसके अतिरिक्त किसी अन्य परिणाम पर पहुँच ही नहीं पाता। कहानीकार की सफलता और असफलता का द्योतक यही परिणाम है। यदि पाठक का निर्णय लेखक से भिन्न हुआ तो समझ लेना चाहिए कि कहानी में कहीं न कहीं कुछ कमी है।

कहानी और उपन्यास

कहानी उपन्यास नहीं और न वह उपन्यास का संक्षिप्त संस्करण ही है। दोनों आख्यान-साहित्य के दो प्रधान और पृथक्-पृथक् रूप हैं। दोनों के तत्त्व—कथावस्तु, पात्र, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन, देश-काल, वातावरण, उद्देश्य आदि—

समान हैं परन्तु दोनों की कलात्मक अभिव्यंजना में बड़ा अन्तर है।

उपन्यास जीवन के सर्वांगीण रूप को लेकर चलता है। पात्रों के सूक्ष्म से सूक्ष्म गुण-दोषों का विश्लेषण उसमें हो सकता है और प्रायः होता है परन्तु कहानी जीवन के एक पहलू को लेकर ही लिखी जाती है। कहानीकार केवल यही दिखाता है कि उस पहलू-विशेष की सार्थकता क्या है? और केवल-मात्र यही दिखाने के लिए वह कम से कम पात्र, घटनाएँ एवं अन्य विवरण काम में लाता है। उपन्यासकार का क्षेत्र इतना विस्तृत है कि अपने परिणाम तक पहुँचने के लिए वह स्वतंत्रतापूर्वक इधर-उधर की घटनाओं का समावेश कर सकता है परन्तु कहानीकार अनेक सीमाओं में बन्द रहता है। कहानीकार के पास कथा-वस्तु की संकुचितता एवं समाप्त करने की अवधि इतनी कम होती है कि वह कम से कम शब्दों में अपने परिणाम को अधिक से अधिक तर्कयुक्त, शक्तिशाली, प्रभावोत्पादक एवं हृदय-ग्राह्य बनाने में तत्पर रहता है। उपन्यासकार अपने पात्रों का चरित्र-चित्रण बड़े संतोष और सुविधा से करता रहता है परन्तु कहानीकार ऐसा नहीं कर पाता। दोनों के तत्सम्बन्धी साधनों के विस्तार में बड़ा अन्तर है। कहानीकार के कथोपकथन, उसकी अपनी टीका-टिप्पणियाँ बड़ी सार्थक, मार्मिक और प्रभावोत्पादक तथा सामयिक होनी चाहिएँ—उनमें किसी प्रकार की शिथिलता अथवा शब्दाडम्बर को स्थान नहीं मिल सकता। यही कारण

है कि कहानीकार वही हो सकता है जो 'सूक्ष्म-शब्दों का व्यक्ति है' (A man of few words) और जिसके शब्दों में गांभीर्य, अर्थसम्पन्नता, अनुभव की सूत्र-बद्धता तथा जीवन के निचोड़ की अभिव्यक्ति हो।

उपन्यास में कथानक प्रधान होता है, कहानी में कथानक का प्रभाव। उपन्यास चरित्र-चित्रण की सूक्ष्मता पर जोर देता है और कहानी में चरित्र-चित्रण का महत्त्व वातावरण और प्रभाव की सृष्टि में होता है क्योंकि कहानी में इतना क्षेत्र कहाँ जो किसी भी व्यक्ति का पूर्ण चित्रण संभव हो सके। शेष उपकरण दोनों में समान हैं केवल उनके व्यवहार और सीमा में विभिन्नता है।

कहानी भी उपन्यास की तरह घटना-प्रधान या पात्र-प्रधान हो सकती है। अन्य वर्गीकरण भी उपन्यास के अनुसार ही हैं।

हिन्दी-कहानियाँ : साहित्यिक मूल्यांकन

हिन्दी-कहानियों के कलात्मक-विकास की कई अवस्थाएँ हैं, अतएव उनके साहित्यिक मूल्यांकन के लिए संक्षेप में उनकी जानकारी आवश्यक है।

आधुनिक कहानियों का युग सन् १९०० से आरंभ होता है जब सरस्वती पत्रिका में उनका छपना आरंभ हुआ। इस प्रकार

कहानी-साहित्य की निम्न अवस्थाएँ साहित्यिक महत्त्व रखती हैं—

१. सन् १६०० से पूर्व का हिन्दी कहानी-साहित्य।

२. सन् १६००–१४ तक का कहानी-साहित्य।

३. सन् १६१५–४६ तक का कहानी-साहित्य।

सन् १९०० से पहले तक की हिन्दी कहानियाँ

हिन्दी-साहित्य की मूल प्रेरणाएँ दो थीं। संस्कृत-साहित्य से गृहीत और अरबी-फ़ारसी-साहित्य से प्राप्त। प्रथम प्रेरणा में हिन्दू-संस्कृति, आचार-विचार की प्रधानता थी और दूसरी में मुसलमानी संस्कृति, भारतीय वातावरण में परिष्कृत उसका हिन्दू-मुस्लिम रूप प्रधान था। संस्कृत-साहित्य की प्रेरणा से जो कहानियाँ लिखी गईं उनमें धर्म और उपदेश की प्रधानता थी। अधिकांश कहानियों में प्राचीन शूरवीरों के पराक्रम, प्रेम, न्याय, विद्या, वैराग्य आदि गुणों का अतिरंजित वर्णन था। 'सिंहासन-बत्तीसी', 'वैताल-पच्चीसी' तथा 'भोज-प्रबंध' आदि कथा-संग्रह-ग्रन्थ इसी प्रकार के विषयों से भरे हुए हैं। जनता के भी दो वर्ग हो गए थे। एक वर्ग महाभारत के उपाख्यानों, जातक-कथाओं तथा पुराणों की अद्भुत कल्पना-पूर्ण कथाओं से अपना मनोरंजन करता था और दूसरा आल्हा-ऊदल, भरथरी, मुंज, भोज आदि की प्रेम तथा वीरता-सम्पन्न कहा-

नियों से तृप्त होता था। परन्तु वर्तमान कहानी-कला का सौंदर्य उनमें न था।

मुसलमानों के साथ मुसलमानी दृष्टिकोण भी भारत में आया और उन्हीं के साथ यहाँ रह भी गया। उनकी कहानियों के संसर्ग से कुछ कथाएँ और कथा-संग्रह लिखे गए एवं प्रकाशित हुए जिनमें 'रानी केतकी की कहानी', 'तोता-मैना', 'छबीली-भटयारिन', 'गुलबकावली' आदि जनता के चाव की कहानियाँ थीं। इन कहानियों में प्रेम का चित्रण है परंतु वह एकदम लैला-मजनूँ और शीरीं-फ़रहाद के प्रेम के ढंग का न होकर भारतीय वातावरण के अनुरूप भी है। प्रेम के दोनों रूप—लौकिक और पारलौकिक—इनमें प्रस्तुत हैं। जिन कहानियों का आधार आध्यात्मिक सूफ़ी-प्रेम-वर्णन है उनमें पारलौकिक और लौकिक का अपूर्व सम्मिलन है। सूफ़ी प्रेम-आख्यान सब इसी कोटि के हैं और 'तोता-मैना' आदि में लौकिक शृङ्गार वर्णित है। कहीं कहीं तो उनका प्रेम विलासिता को उद्दीप्त करने वाला प्रेम ही चित्रित किया है। उसे अश्लील प्रेम भी कह सकते हैं। हास्य और विनोद इनकी विशेषता है। अस्वाभाविक, अति-मानवी और अतिप्राकृतिक प्रसंगों के चित्रण इन कहानियों के कुछ ध्यान देने योग्य लक्षण हैं। उड़न-खटोला, उड़नेवाला घोड़ा, मनुष्यों की तरह वार्तालाप करने वाले पशु-पक्षी, प्रेत, राक्षस, देव, परी और अप्सरा आदि का प्रयोग कथा को आकर्षक बनाने के लिए साधारण-सी बात थी। आधुनिक

कहानी की संकेतता तथा गंभीरता इनमें नहीं है।

उपरोक्त दो प्रकार की कहानियों के अतिरिक्त तीसरे प्रकार की कहानियाँ वे हैं जो अंग्रेजी सभ्यता के सम्पर्क में आने के उपरान्त लिखी गईं। यहीं से आधुनिक कहानी का आरंभ होता है।

इस प्रकार इस नई धारा तक की कहानियों में राजकुमार और राजकुमारियों की प्रेम-गाथाएँ, राजा-रानी के अद्भुत वार्तालाप, दधीचि-कर्ण और राजा भोज की दान-कथाएँ, अर्जुन-भीम की वीरता के वर्णन पढ़ने को मिलते थे। उनकी कथा-वस्तु का संगठन ढीला, चरित्र-चित्रण मनोविज्ञान से रहित और कथोपकथन अधिकांश में कृत्रिम था। इन सब बातों की प्रतिक्रिया स्वरूप कहानी की नई धारा चली।

सन् १९००–१९१४ तक की कहानियाँ

इस काल की प्रमुख कहानियों में निम्न कहानियाँ अधिक प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण हैं—

'इन्दुमती' (१९००) गोस्वामी किशोरीलाल कृत; 'दुलाई वाली' (१९०७) श्रीमती वंगमहिला कृत, 'निन्नानवे का फेर' (१९१०) श्रीमैथिलीशरण गुप्त कृत छन्दोबद्ध; 'ग्राम' (१९११) प्रसादजी कृत; 'सुखमय जीवन' (१९११) गुलेरी जी कृत; तथा 'रसिया बालम' (१९१२) प्रसाद जी कृत आदि। इन कहानियों में से

प्रथम पर शेक्सपीयर के 'टेम्पेस्ट' (The Tempest) की छाप है परन्तु 'दुलाई वाली' सुन्दर मौलिक रचना प्रतीत होती है। यह कहानी स्थान-चलन (Local colour) से ओत-प्रोत है और सुन्दर यथार्थवादी चित्रण इसमें प्रस्तुत किया गया है। इन्दुमती की तरह इसकी नायिका मिरांडा (Miranda) की भाँति अपने पिता के साथ विन्ध्याचल के सघन वन में निवास करने वाली नहीं है। नवलकिशोर (दुलाई वाली) का विनोद-प्रिय सुन्दर हास्य रेल में घटित होने वाली एक साधारण घटना से मुखरित हो गया है। लेखिका की व्यंजनापूर्ण लेखन-शैली और स्थान-चल-संयुक्त यथार्थ वार्तालाप ही इस कहानी का प्राण है। 'ग्राम' में लेखक ने आकस्मिक घटनाओं और संयोग का आधार लेकर एक करुण परिस्थिति की स्थापना की है। कहानी के नायक मनोहरलाल (कुन्दनलाल के पुत्र) अपनी जमींदारी के रोब-दाब के साथ गाँव जाते हैं और रास्ता भूल जाते हैं। लड़कों से रास्ता पूछने पर भी पता नहीं चल पाता। भटकते २ शाम के समय एक लड़की उन्हें अपनी माँ के पास ले जाती है। बूढ़ी माँ अपने पति की जमींदारी का कुन्दनलाल द्वारा छीने जाने और अपनी दुर्दशा का वर्णन करती है। मनोहर अपने पिता के इस कृत्य पर बड़े असमंजस में पड़ जाता है। इसी प्रकार 'सुखमय जीवन' के नायक की सहायता भी एक लड़की द्वारा ही होती है। नायक की साइकिल में पंक्चर होने के कारण हवा निकल गई। लड़की के आकर्षण में नायक

महोदय बह गए और अन्त में दोनों का विवाह हो गया। 'रसिया-बालम' में प्रसाद अपनी नाटकीय प्रभा को काम में ले आते हैं।

इस प्रयोगात्मक काल की कहानियों का उद्गम सामयिक जीवन में घटित होने वाली प्रतिदिन की घटनाएँ एवं करुण, हास्य, विस्मय तथा अद्भुत द्वारा उत्पन्न परिस्थितियाँ हैं। इन दोनों के आधार पर एक यथार्थवादी वातावरण की सृष्टि में कहानी-लेखक की सफलता व्यंजित होती है। दूसरा उद्गम प्राचीन साहित्य के खण्ड एवं काव्य, नाटक एवं अन्य आख्यानात्मक गीत आदि हैं। इनका आधार लेकर लेखक कल्पना-प्रधान कहानी की रचना करता है। ऐसी कहानियाँ आदर्शवादी या रोमांसवादी वातावरण की सृष्टि करती हैं और उसी के आधार पर लेखक की सफलता अथवा असफलता की जाँच की जाती है।

संक्षेप में संयोगों (Coincidences) एवं दैवी घटनाओं (Chances) के द्वारा कहानी की सृष्टि होती है। उसमें मनोरंजन की प्रधानता है पर मनोवैज्ञानिक विश्लेषण नहीं। लेखक बाह्य-परिस्थितियों का चित्रण अधिक करता है, वह आत्मा की गहराई में नहीं उतरता।

सन् १९१५ से १९४९ तक का कहानी-साहित्य

सन् १९१५ में गुलेरी की 'उसने कहा था' सरस्वती में

प्रकाशित हुई और सन् १६१६ में प्रेमचन्द की 'पंच-परमेश्वर'। ये दोनों लेखक ही हिन्दी की आधुनिक कहानी में एक नया संदेश लेकर आए। गुलेरी जी ने अपनी कहानी द्वारा पंजाबी वातावरण और लड़ाई के मैदान का जीवन पाठकों के सामने रखा। उनकी कला का अत्यन्त प्रौढ़ रूप घटनाओं के संबंध-निर्वाह में मिलता है। काल का अन्तर मिटा कर कहानी का प्रभाव-ऐक्य बड़ी सतर्कता से निभा है। सब के पीछे धीरे से मानों कहानी उच्च, त्यागपूर्ण आदर्श के क्रियात्मक रूप को उस साधारण सिपाही-जीवन में झलका कर हृदय को चुपचाप ही उच्चता की ओर मोड़ देती है। इसी प्रकार का यथार्थवाद साहित्य में वाँछनीय है।

प्रेमचन्द ने कहानी को वाह्य घटनाओं के जाल से निकाल कर उसे मानव जीवन के अन्तर्-रहस्यों के उद्घाटन का साधन बनाया। उन्होंने अपनी कहानियों में मनुष्य की छिपी हुई मानवता और उच्चता का उद्घाटन किया। उनमें मार्मिक अनुभूति, कथा-विन्यास में सहृदयता, कथोपकथन में सजीव लचीलापन और भाषा का मंजा हुआ मुहावरेदार प्रवाह मिलता है। अपनी कहानी 'आत्माराम' में वह बड़ी गहराई से महादेव के अन्तःकरण में उतरते हैं। मोहरें मिल जाने पर महादेव का मानसिक चित्रण कितना सजीव है—

"महादेव के अन्तर्-नेत्रों के सामने एक दूसरा ही जगत् था, चिन्ताओं और कल्पनाओं से परिपूर्ण, यद्यपि अभी कोष के

हाथ से निकल जाने का डर था, पर अभिलाषाओं ने अपना काम शुरू कर दिया। एक पक्का मकान बन गया, सराफ़े की एक भारी दुकान खुल गई, निज सम्बन्धियों से फिर नाता जुड़ गया, विलास की सामग्रियाँ प्रस्तुत हो गईं, तब तीर्थ-यात्रा करने चले और वहाँ से लौट कर बड़े समारोह से यज्ञ, ब्रह्मभोज हुआ। इसके पश्चात् एक शिवालय और कुआँ बन गया, एक उद्यान भी आरोपित हो गया और वहाँ वह नित्यप्रति कथा पुराण सुनने लगा। साधु-सन्तों का सत्कार होने लगा।

"अकस्मात् उसे ध्यान आया, कहीं चोर आजाएँ तो मैं भागूँगा क्योंकर। उसने परीक्षा करने के लिए कलसा उठाया और दो सौ पग तक बेतहाशा भागा हुआ चला गया। जान पड़ता था उसके पैरों में पर लग गए हैं। चिन्ता शान्त हो गई।..............."

एक ओर मानसिक भावनाओं का यह चित्र है, दूसरी ओर उनकी कहानी 'कामना-तरु' में कवित्व की कोमल कल्पना है। उनके लिए 'कला' उपदेश न करे, फिर भी उसमें मनुष्य के लिए हितकारी 'शिव' का पुट होना चाहिए।

प्रेमचन्द ने मानव-चरित्र की एक अद्भुत पिटारी खोली और प्रसाद ने उसे भावनामय बना दिया। 'मधूलिका' का गर्व एवं अभिमानभरा त्याग, प्रेम के कारण उसका विश्वासघात,

अपने प्रेमी के षड्यंत्र का भंडा फोड़कर उसे बन्दी करवाना और अन्त में पुरस्कार रूप में अपनी मृत्यु की माँग—सभी कुछ विस्मयोत्पादक है। प्रसाद अनन्त सौंदर्य के उपासक और असीम प्रेम के स्रष्टा थे। प्रेम की जिस स्निग्ध और कोमल भावना पर उनकी कहानियों का प्राचीर खड़ा किया गया है, वह हृदय में विचित्र गुदगुदी पैदा करता है। 'नूरी' का प्रेमी 'याक़ूब', 'बेला' का उपासक 'गोली' और 'सालवती' का प्रेमी 'अभय' प्रसाद के ही मस्तिष्क में जन्म ले सकते थे। 'चम्पा' का उद्भव भी उसी हृदय में संभव हो सकता है जिसमें प्रेम का अखण्ड स्रोत बह रहा हो। प्राचीन गौरवमय इतिहास के बिखरे हुए मोतियों को एक सूत्र में पिरो कर उन्होंने राष्ट्रभाषा के चरणों पर अर्पण कर दिया है।

प्रसाद की कहानी-कला उनकी कल्पना और भावुकता से लबालब भरी है। कहानी की यथार्थवादिता में हृदय की मार्मिकता का जितना अखण्ड रस प्रसाद ने घोला है वैसा किसी अन्य लेखक ने नहीं। उनकी कहानियाँ एक 'अलौकिक संसार' की वस्तु प्रतीत होती हैं परन्तु भूलना नहीं चाहिए कि संसार में 'लौकिक' ही सब कुछ नहीं है, उसमें 'कुछ और' भी है और यही 'कुछ और' हमें प्रसाद की कहानियों में मिलता है।

प्रसाद, प्रेमचन्द, गुलेरी आदि लेखक जीवन की साधारण और सरल स्थितियों को लेकर चले। कौशिक और सुदर्शन

उन्हीं के समान आदर्शवाले कलाकार हैं। परन्तु एक वर्ग ऐसा भी है जो जीवन के असाधारण परिस्थितियों में उत्पन्न चरित्रों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, अपनी कहानी-कला का लक्ष्य मान कर चला है। जैनेन्द्र, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, विनोद-शंकर व्यास इसी वर्ग में हैं। जैनेन्द्र की कहानी 'मास्टर जी' में मास्टर जी का मनोवैज्ञानिक चित्रण एक असाधारण परिस्थिति का ही चित्र है क्योंकि वह साधारणतया संभव नहीं। उनकी कहानी 'चलित-चित्र' में धनवान् नायक की परिस्थिति का चित्रण जब वह दूसरे यात्री की हीरे की अंगूठी–जिसे यात्री भूल से छोड़ गया था और जिसे देखकर इतना धनाढ्य होते हुए भी नायक का चित्र चंचल हो उठा था–देखता है, बड़ा सुन्दर है। इसी प्रकार का चरित्र वाजपेयी के 'मिठाईवाले' का है। बच्चों के प्रति उसका व्यवहार जिस परिस्थिति के वशी-भूत होकर इतना मार्मिक और संवेदनापूर्ण दिखाई देता है वह साधारण स्थिति में संभव नहीं है।

इन कहानियों में एक विशेषता यही है कि वे मानव मस्तिष्क और उसके कार्य-कलापों का एक मनोवैज्ञानिक चित्र सामने रखकर अपने संभावित सत्य के सौंदर्य से पाठक को अपनी ओर आकर्षित कर लेती हैं।

आधुनिक हिन्दी कहानियों में एक प्रयास कमलाकान्त वर्मा की 'पगडंडी', 'खंडहर' और 'तकली' में मिलता है। इनमें लेखक का आध्यांतरित (Subjective) दृष्टिकोण है। 'पगडंडी'

अपना प्रेम और कलह, अपना मान और अपमान, अपना शैशव और यौवन सब का एक सुसंगत इतिहास सबको सुना जाती है। 'तकली' और 'मूली' के वार्तालाप में मानव-सभ्यता का पूरा इतिहास ही सामने आ जाता है।

इस प्रयास को देखकर कभी-कभी ध्यान में आता है कि कहानी-कला का यह विकास और उसमें आध्यांतरितता का यह समावेश क्या एक बार फिर हमें उसी कहानी-कला के युग में ले जाएगा जब पशु-पक्षी भी मनुष्य के समान बोलते हुए दिखाये जाते थे।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि हिन्दी के कहानी-साहित्य को विषय के आधार पर निम्न भागों में बांटा जा सकता है—

१. चरित्र-प्रधान कहानियाँ, जिनमें मुख्य उद्देश्य एक चरित्र का सुन्दर वर्णन करना होता है यथा गुलेरी की 'उसने कहा था' जिसमें लहनासिंह का सुन्दर चरित्र-चित्रण है; प्रेमचन्द की 'बूढ़ी काकी' जिसमें काकी की स्वाद-तृष्णा का स्वाभाविक चित्र है; 'ताई', प्रसाद की 'भिखारिन' आदि इन चरित्र-प्रधान कहानियों में चरित्र का वर्णन, चरित्र के परिवर्तन में उसका विकासपूर्ण वर्णन (ताई) एवं असाधारण परिस्थिति-विशेष का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण (मिठाईवाला) मिलता है। लेखक ऐसी कहानियों में कार्यों और प्रसंगों का अवलम्बन कम लेता है, उसका उद्देश्य चरित्र-चित्रण ही रहता है। कभी-कभी ऐसा होता है कि चरित्र-चित्रण मनोवैज्ञानिक समस्या बन जाता है।

जहाँ यह कठिनता आ जाती है, वहाँ चरित्र नीरस हो जाता है परन्तु जिस कहानी में रस, कार्य, घटना-निर्देश आदि का सुव्यवस्थित योग होता है वहाँ चरित्र-प्रधान कहानी बड़ी उत्कृष्ट बन जाती है।

२. घटना-प्रधान कहानी जिसमें चरित्र की अपेक्षा घटनाओं की उलझनों पर अधिक ज़ोर रहता है यथा कौशिक जी की कहानियाँ। इनमें संयोगों और आकस्मिक घटनाओं का पर्याप्त समावेश रहता है।

३. वातावरण-प्रधान कहानी जिसमें वातावरण को प्रधानता के साथ-साथ किसी एक भावना पर भी ज़ोर दिया जाता है। जैसे 'शतरंज के खिलाड़ी' में कथानक का विकास शतरंज खेलने के अपूर्व आनन्द की भावना से होता है। उसमें बाधक होने वाले सभी उपकरण यथाशक्ति दूर करने का प्रयास किया जाता है भले ही उसके कारण राज्य भी चला जाय, या प्राण तक चले जायँ।

प्रसाद की कहानियों में बड़ा रोमांसपूर्ण वातावरण रहता है। उनकी कहानियों में अद्वितीय कवित्वपूर्ण वातावरण, भावना और परिस्थितियाँ रहती हैं।

४. प्रभाव-प्रधान-कहानी जिसमें किसी प्रभाव विशेष की सृष्टि की जाती है। ऐसी कहानी में चरित्र, वातावरण, घटना इत्यादि गौण होते हैं और प्रभाव प्रधान होता है। उदाहरण के लिए चन्द्रगुप्त विद्यालंकार की कहानी 'क, ख, ग'। इन तीनों

कहानियों में चरित्र और घटना का कोई महत्त्व नहीं। इनमें से 'हत्या' द्वारा पाठक पर यह प्रभाव पड़ता है कि संसार में भाई-भाई की हत्या करता है थोड़े से रुपयों के लिए। इसी प्रकार मोहनलाल महतो की कहानी 'कवि' में यह प्रभाव दिखाना अभीष्ट है कि वर्तमान युग कविता के लिए उपयुक्त नहीं है। सूर, तुलसी, केशव आदि का भारती के द्वार पर धरना देकर बैठना मुख्य अंश नहीं है।

५. अन्य प्रकार की कहानियाँ जिनमें से प्रधान हास्य-युक्त कहानियाँ हैं जैसे प्रेमचन्द की मोटेराम शास्त्री, भगवतीचरण वर्मा की 'विक्टोरिया-क्रास', अज़ीमबेग चग़ताई की 'यह किसकी तस्वीर है ?' अन्नपूर्णानन्द की 'अकबरी लोटा' आदि।

इन कहानियों की सार्थकता परिस्थितियों की हास्योत्पादकता में है।

दूसरे प्रकार की कहानियाँ ऐतिहासिक कहानियाँ हैं। इनके लेखकों में प्रेमचन्द (राजा हरदौल, रानी सारन्धा आदि); प्रसाद (ममता), सुदर्शन (न्याय-मंत्री), चतुरसेन शास्त्री (भिक्षुराज) आदि हैं। परन्तु ऐतिहासिक कहानियाँ हिन्दी में बहुत कम हैं।

तीसरे प्रकार की कहानियाँ प्रकृतिवादी ढंग की हैं। इनके लेखक काम-समस्या (Sex-problem) के वशीभूत हैं। यद्यपि लेखक समाज-सुधारक होने का दावा करते हैं परन्तु उनकी कला अभी तक उन्हें मान्य पद पर लाकर बिठाने में समर्थ नहीं हो सकी है।

हिन्दी-कहानियों की शैली

कहानी लिखने की सर्वप्रथम शैली ऐतिहासिक शैली थी। एक इतिहास-लेखक की तरह कहानीकार तटस्थ होकर सारी घटनाओं का वर्णन करता था। चमत्कारपूर्ण उक्तियाँ और अलंकृत भाषा के कारण इस प्रकार की शैली वाली कहानियाँ साहित्य में स्थान पा जाती थीं। संभाषण-कला और नाटकीय सौंदर्य के कारण ऐतिहासिक शैली में एक विशेष आकर्षण उत्पन्न हो जाता है। इसी आधार पर चरित्रों के कार्यों, विचारों की अपूर्व अभिव्यंजना की पृष्ठभूमि तैयार की जाती है। परिस्थिति और वातावरण के इस योग में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का समावेश कर कहानी को कलात्मक बनाया जाता है। उदाहरण के लिए प्रसाद की 'आकाश-दीप' कहानी ली जा सकती है। उसका आरंभ परस्पर संभाषण द्वारा हुआ है। तत्पश्चात् कहानी का वातावरण बनता है और फिर 'चम्पा' तथा 'बुद्धगुप्त' का परस्पर परिचय, आन्तरिक द्वन्द्व का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और फिर चम्पा और बुद्धगुप्त के परस्पर विछोह में समाप्ति। कितना यथार्थ, सुन्दर, स्वाभाविक, प्रेरणावर्धक और उत्तेजनापूर्ण वर्णन है सारी कहानी में।

कहानी की दूसरी शैली चरित्र-शैली है। कोई पात्र सारी कहानी 'उत्तम-पुरुष' में कह जाता है। सुदर्शन की 'अंधेरी दुनिया' इसी प्रकार की कहानी है।

कहानी की तीसरी शैली पत्र-शैली है। सारी कहानी पत्रोत्तर द्वारा कही जाती है। कहानी का कथानक और पात्रों का चरित्र-विकास इसी आधार पर किया जाता है। प्रसाद की 'देवदासी' और राधिकारमणसिंह की 'सुरबाला' इसी प्रकार की कहानियाँ हैं।

कहानी की चौथी शैली डायरी-शैली है। परन्तु हिन्दी में अभी यह शैली लोक-प्रिय नहीं हो पाई है।

उपसंहार में कहा जा सकता है कि हिन्दी-साहित्य की कहानियों का विकास हिन्दी-कहानी-कला का विकास है। अपनी मूल प्रेरणाओं को संस्कृत से लेकर भी कहानी ने अंग्रेजी कहानी-कला को अधिक अपनाया है। हिन्दी-कहानियों में से अधिकांश का विकास स्वतंत्र रूप से हुआ है। प्रेमचन्द और प्रसाद तथा उनके साथी वर्ग में यह बात स्पष्ट है। कुछ लेखक परिचय से प्रभावित हुए हैं और उनमें बुद्धिवादी अंश की पर्याप्त झलक आ गई है। दोनों अंश वर्तमान कहानियों में इतना घुल-मिल गए हैं कि अब की कहानियों में उन्हें पृथक् करना सरल नहीं है। हिन्दी की वर्तमान कहानियाँ किसी भी अन्य देश की साहित्यिक कहानियों के समक्ष गौरव से रखी जा सकती हैं।

---

[७]

निबन्ध : लक्षण

वर्तमान हिन्दी-साहित्य में 'निबन्ध' शब्द अंग्रेज़ी के Essay का पर्यायवाची है और उन सब अर्थों में गृहीत है जिन में अंग्रेज़ी शब्द का प्रयोग किया जाता है।

अंग्रेज़ी भाषा में Essay शब्द वास्तव में Assay का उच्चारणात्मक रूपान्तर है। Assay का धातु-अर्थ है 'प्रयत्न' अर्थात् किसी वस्तु की प्राप्ति अथवा उत्पत्ति आदि के लिए 'प्रयत्न' करने की क्रिया। आरंभ में Essay का प्रयोग 'किसी वस्तु को तोलना, परखना अथवा परखने के प्रयत्न' के लिए ही होता था। बाद में यह शब्द साहित्यांग के एक विशेष रूप के लिए रूढ़ि हो गया। साहित्य में Essay से जो अभिप्राय है उसका भी एक महत्त्वपूर्ण विकास है। आरंभ में Essay उसी गद्य-रचना को कहते थे जो किसी विषय पर व्यक्तिगत विचार प्रदर्शित करने के लिए संक्षिप्त रूप में लिखी जाती थी। जान्सन (Johnson) ने तो उसे 'मस्तिष्क का असम्बद्ध आपात, व्यवस्थाहीन अपचित रचनांश···'[1] माना है। वर्तमान अंग्रेज़ी साहित्य का

---

1. "A loose sally of the mind, an irregular, undigested piece, not a regular and orderly composition."

Essay उक्त परिभाषा में बहुत आगे बढ़ गया है। Murray ने अपने कोष (Dictionary) में उसकी परिभाषा देने का प्रयत्न किया है। उसके विचार में "Essay किसी एक विशेष विषय या उसकी शाखा पर लिखी गई एक समर्याद रचना है।···आरंभ में (मूल में) उसका अभिप्राय अन्तहीन रचना से था परन्तु अब उस रचना से है जो विस्तार में मर्यादित होते हुए भी शैली की दृष्टि से कम या ज्यादा मात्रा में श्रमसिद्ध होती है।¹"

मरे की परिभाषा 'निवन्ध' में दो वातों को स्पष्ट और निश्चित कर देती है—निवन्ध में विस्तार का अभाव और किसी एक विषय का प्रतिपादन होना चाहिए। वास्तव में वर्तमान 'निवन्ध' के लिए, यदि इन दोनों वातों पर ध्यान रखकर चला जाय, यह परिभाषा नितान्त लागू होती है। निवन्ध के यही दो प्रधान लक्षण उसे अपने अन्य सहयोगी साहित्यांगों—Thesis or Treatise (प्रवन्ध अथवा निवन्ध—लेख)—से भिन्न करने में समर्थ होते हैं। Thesis या प्रवन्ध एक प्रकार का निवन्ध होता है परन्तु अपेक्षाकृत उसका विस्तार वहुत अधिक होता है और वह तर्क-वद्ध एवं विवेचनात्मक होने के

---

1. "A composition of moderate length on any particular subject or branch of a subject...originally implying want of finish, but now said of a composition more or less elaborate in style, though limited in range."

कारण अपना निजी अस्तित्व रखता है। इसी प्रकार 'लेख' में भी लेखक विषय, उसके प्रतिपादन एवं विस्तार के लिए स्वतंत्र रहता है।

अतएव साधारणतया कहा जा सकता है कि निबन्ध में निम्नलिखित लक्षण पाये जाते हैं—

१. अपेक्षाकृत विस्तार का अभाव—अधिक विस्तार होने से यह संभावना बनी रहती है कि विषय का आधिक्य निबंध को बोझल बनादे। निबन्ध एक विशेष विचारधारा का माध्यम है अतएव उसे आनन्दप्रद ही होना चाहिए नीरस नहीं।

२. निजी सम्पूर्णता—निबन्ध का विषय जब सीमित है तो अपनी मर्यादा में वह सम्पूर्ण होना ही चाहिए अन्यथा प्रभाव-ऐक्य का अभाव उसमें खटकने वाली चीज़ बन जायगी।

३. समवाय (organic quality) तथा तर्क-बद्धता के बोध का अभाव—निबन्ध में पर्याप्त स्वतंत्रता लेखक को होती है। वह किसी प्रकार के बंधन से नहीं बँधा होता। कविता में, उपन्यास में अथवा नाटक में उसे अनेक तत्त्वों का ध्यान रखना पड़ता है परन्तु निबन्ध में यह आवश्यक नहीं है कि अन्य साहित्यांगों की तरह वह सम्बन्ध-निर्वाह से ओत-प्रोत हो और उसमें प्रतिपादन की तर्कबद्ध प्रणाली हो। संभवतः जान्सन की शब्दावली 'A loose sally of mind—मस्तिष्क का असम्बद्ध आघात' में यही अभिप्राय था। परन्तु वर्तमान निबन्ध-लेखक इस लक्षण को छोड़कर निबन्ध को तर्क-सम्मत बनाते जा रहे हैं

और इस प्रकार निबन्ध के मूल उद्गम से पृथक् होते जाते हैं।

४. व्यक्तित्व-अभिव्यंजना—निबन्ध निजी विचारों का प्रदर्शन है अतएव गीति-काव्य की तरह उसमें आत्माभिव्यंजन की प्रधानता रहती है। जब तक लेखक का व्यक्तित्व निबन्ध में नहीं आता तब तक वह उच्चकोटि का निबन्ध नहीं कहलाया जा सकता। निबन्ध का यह आध्यान्तरित रूप भी उसे अपने अन्य सहयोगियों से पृथक् करने में समर्थ है। प्रबन्ध या लेख में वर्णन हो सकता है और वह वर्णन साधारण पदार्थ-वर्णन (objective) हो अथवा आध्यान्तरित (objective) परन्तु निबन्ध में वह आध्यान्तरित ही हो सकता है। व्यक्तित्व की अभिव्यंजना की उपादेयता का पता फ्रांसीसी लेखक मोन्तेन्ज (Montaigne) के शब्दों से भी लगता है। निबन्ध के इस आदि-लेखक का अपने ही निबन्धों के सम्बन्ध में कथन है—

'ये मेरी अपनी भावनाएँ हैं; इनके द्वारा मैं किसी नवीन सत्य के अन्वेषण का दावा नहीं करता; इनके द्वारा मैं अपने आप को पाठकों की सेवा में अर्पित करता हूँ।'

अतएव नाटक की भाषा में निबन्ध एक प्रकार का 'स्वगत भाषण है'।

निबन्ध-अध्ययन

निबन्ध का अध्ययन करते हुए अनेक विषयों को ध्यान में रखना आवश्यक है।

१. लेखक का व्यक्तित्व और उसका प्रतिपादित विषय एवं

जीवन के प्रति दृष्टिकोण। व्यक्तित्व का निर्माण, जैसा आरंभ में बताया जा चुका है, अनेक तत्त्वों का समष्टि-रूप है। अतएव व्यक्तित्व-प्रधान साहित्यांग का शास्त्र-सम्मत अध्ययन तभी संभव है जब लेखक को उसके वातावरण सहित देखा और परखा जाय। उसके व्यक्तिगत कार्य-व्यापारों का बड़ा प्रभाव व्यक्तित्व के निर्माण पर पड़ता है। आजकल प्रायः कह दिया जाता है कि हमें लेखक की विचारधारा को देखना चाहिए न कि उसकी जीवनी को। परन्तु ऐसा कहने वाले भूल जाते हैं कि जीवन के रहन-सहन और विचारधारा में बड़ा गहरा संबंध है। धनी क्या कभी निर्धन की आत्मा का दर्शन करने में समर्थ हो सकता है? अपने वैभव और विलास के आसन पर बैठा हुआ वह अपनी कल्पना को कहाँ तक नीचे गिरा सकता है?

२. विचारधारा का अध्ययन—विषय और उसके विकास का अध्ययन भी आवश्यक है। लेखक अपने विषय के प्रतिपादन में जो विचारधारा प्रवाहित करता है उसका एक स्वाभाविक विकास होता है। यह विकास विषय के अनुकूल प्राप्य सामग्री पर निर्भर है। सामग्री का आधिक्य लेखक की जानकारी का द्योतक है और पाठक की ज्ञान-सीमा को विस्तृत करने में सहायक है।

३. शैली—प्रतिपादित विषय को किस प्रकार अभिव्यंजित किया गया है। निबन्ध में शैली का बड़ा मूल्य है। शब्दों का चुनाव, वाक्यों का विन्यास और भाव तथा विचारों का विकास शैली के मौलिक तत्त्व हैं।

रचना-चमत्कार और भावोत्कर्ष के लिए शैली ही माध्यम है। यदि निबन्ध-लेखक अपने पाठकों के हृदय में वह हिलोर न उठा सका जो स्वयं उसके मन में तरंगित हुई तो उसका प्रयास व्यर्थ है। यदि उसकी बलवती कल्पनाएँ पाठक के मनोवेगों में स्पन्दन उत्पन्न करने में असमर्थ हैं तो लेखक का प्रयत्न निरर्थक है। लेखक अपने भाव, विचार और भाषा के सामंजस्य से अपनी कल्पना, विचार और मनोवेगों को यथास्थान सुसज्जित करता है और सब के संमिश्रण से प्रभाव-ऐक्य की स्थापना कर अपनी रचना को आकर्षक तथा हृदय-ग्राह्य बनाता है। उसके इस सब प्रयत्न में सबसे बड़ा साधन शैली है। देखा जाय तो 'शैली' और 'व्यक्तित्व की अभिव्यंजना' में कोई अन्तर नहीं। शैली इतनी व्यक्तिगत वस्तु है कि किसी साहित्यांश को पढ़कर पाठक तत्काल कह उठता है 'यह अमुक लेखक की रचना प्रतीत होती है'। जो गुण सब में पाया जाय वह किसी एक व्यक्ति की बपौती नहीं कहलाई जा सकती। अतएव व्यक्तित्व का पृथक्-करण शैली के ही आधार पर किया जा सकता है। प्रेमचन्द और प्रसाद, चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' और सच्चिदानन्द वात्स्यायन तथा मैथिलीशरण गुप्त एवं 'निराला', सभी का व्यक्तित्व उनकी शब्द-योजना, वाक्य-विन्यास, विषय और उसे प्रतिपादन करने की शैली से स्पष्ट समझ में आ जाता है। निबन्ध के संसार में भारतेन्दु, पं० बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, माधव-प्रसाद, पूर्णसिंह, वियोगी हरि, 'प्रेमघन', गोविन्दनारायण मिश्र

रामचन्द्र शुक्ल, बालमुकुन्द गुप्त, आदि सभी लेखक अपनी-अपनी शैली के कारण निजी स्थान रखते हैं।

हिन्दी निबन्धों की शैली

निबन्ध गद्य का अंश है और प्रायः गद्य की उत्कृष्टता उसमें प्राप्य निबन्धों की उत्कृष्टता से ही जाँची जाती है। हिन्दी का गद्य, पद्य की अपेक्षा अर्वाचीन है। परन्तु अपने इस विकास में निबन्धों की प्रधान शैलियों का पर्याप्त विकास हुआ है। वर्तमान हिन्दी-निबन्धों में निम्नलिखित शैलियाँ उपलब्ध हैं—

१. व्यास-शैली—इस शैली के अन्तर्गत वाक्य की रचना में एक बात बहुत अधिक शब्दों में वर्णित की जाती है।

२. समास-शैली—इसके अन्तर्गत वाक्य की रचना में एक बात बहुत थोड़े से नपे-तुले शब्दों में वर्णित होती है।

३. धारा-शैली—इसके अन्तर्गत वाक्य की रचना में हृदय के भावों का उद्गार प्रवाह रूप से चलता है।

४. विक्षेप-शैली—इसके अन्तर्गत वाक्य की रचना में हृदय के उद्गारों में धारावाहिकता का अभाव-सा रहता है और भाव रुक-रुक कर व्यक्त किए जाते हैं।

५. प्रलाप-शैली—इसमें भाव-व्यंजना का अधिक प्रयोग होता है और भाषा में कुछ अव्यवस्थितता तथा विचारों में असम्बद्धता रहती है। वाक्य छोटे होते हैं परन्तु प्रभावशाली रहते हैं।

अच्छी शैली के साधारण गुण, संक्षेप में इस प्रकार हैं—

(१) वर्णन का विषय सत्य पर अवलम्बित हो।

(२) शब्दों का चुनाव सुन्दर रुचि का उत्पादक हो।

(३) विषय और विचार में एकता हो।

(४) विषय-प्रतिपादन में लेखक की सम्मति की व्यंजना हो।

(५) शब्दों और वाक्यांशों की पुनरुक्ति न हो।

(६) कल्पना युक्त हो परन्तु कल्पना सत्य पर आधारित हो।

(७) लेखक के मन और आत्मा में सामंजस्य हो। व्यक्तित्व की अभिव्यंजना इसी के द्वारा हो सकती है।

(८) यथासंभव 'मैं' का अभाव हो। लेखक 'अहं' भाव छोड़कर लिखे।

(९) अलंकार प्राचीन न होकर नवीन हों।

(१०) व्यंजना ऐसी हो जो सूक्ष्म से भी सूक्ष्म स्थिति में जा के लिए पाठक को चुनौती दे और उसे पढ़े बिना पाठक प्रसंग छोड़ने में असमर्थ हो जाय।

(११) प्रत्येक वाक्य जटिल न होकर स्पष्ट हो। वाक्य को पढ़कर वही आनन्द होना चाहिए जो किसी कठिनाई पर विजय प्राप्त करने पर होता है।

(१२) अभिव्यंजना संश्लिष्ट हो। विषय के अनुकूल शैली का समावेश होना चाहिए। उपरोक्त शैलियों में से पहली और दूसरी शैली का प्रयोग विचारात्मक निबन्धों में अधिक होता है जहाँ लेखक थोड़े से शब्दों में अधिक या अधिक शब्दों में

थोड़ा-सा कहना चाहता है। तीसरी, चौथी और पाँचवीं शैली का प्रयोग भावात्मक निबन्धों में अधिक होता है।

हिन्दी-निबन्धों का वर्गीकरण

हिन्दी-निबन्धों को कई वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। शैली के आधार पर एक वर्गीकरण का संकेत ऊपर दिया जा चुका है। विषय के अनुकूल वर्गीकरण इस प्रकार हो सकता है—

१. भावात्मक निबन्ध—जिन निबन्धों में भाव प्रधान होता है, विचार गौण होता है, वे भावात्मक निबन्ध कहलाते हैं। इस श्रेणी के प्रमुख लेखक हैं—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (एक अपूर्व स्वप्न, सूर्योदय, होली, त्यौहार आदि); बालकृष्ण भट्ट (कुँआर के दस दिन, पंच महाराज, नाक निगोड़ी भी बुरी बला है, भकुआ कौन २ है ?, चन्द्रोदय आदि); प्रतापनारायण मिश्र (होली है, आप; मुच्छ, घूरे के लत्ता बिनें, कनातन का डौल बाँधें, भौं आदि); माधवप्रसाद मिश्र (रामलीला); सरदार पूर्णसिंह (नयनों की गंगा, आचरण की सभ्यता, प्रेम और मजदूरी, सच्ची वीरता); वियोगी हरि (साहित्यिक चन्द्रमा, आँख पर हिन्दी-कवि आदि); रायकृष्णदास आदि।

२. विचारात्मक निबन्ध – जिनमें विचारों की प्रधानता और भावों की गौणता रहती है। इस श्रेणी के लेखकों में 'प्रेमघन', अम्बिकादत्त व्यास (धैर्य, क्षमा, ग्राम-वास और नगर-वास);

गोविंदनारायण मिश्र (कवि और चित्रकार, विभक्ति-विचार, आत्माराम की टेंटें); महावीरप्रसाद द्विवेदी (साहित्यसीकर और रसज्ञ-रंजन संग्रह); श्यामसुन्दरदास (समाज और साहित्य, भारतीय साहित्य की विशेषता आदि); रामचन्द्र शुक्ल (चिन्तामणि भाग १-२); गुलाबराय (समाज और कर्तव्य-पालन, कवि और कविता, फिर निराशा क्यों ?); पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल (योग-प्रवाह-संग्रह); प्रसाद (काव्य और कला, निबन्ध-संग्रह); नंददुलारे बाजपेयी (प्रसाद, पंत और निराला आदि); हजारीप्रसाद जी द्विवेदी (अशोक-फूल संग्रह); धीरेन्द्र वर्मा (विचार-प्रवाह-संग्रह) आदि।

आजकल लिखे जाने वाले समीक्षात्मक छोटे-छोटे निबन्ध भी विचारात्मक-निबन्धों के अन्तर्गत ही आते हैं।

३. वर्णनात्मक-निबन्ध—इनमें प्राय: विषयों, वस्तुओं और दृश्यों का वर्णन होता है। इस प्रकार के निबन्धों में भी कभी-कभी भावात्मकता का स्वाद आ जाता है। ठाकुर जगमोहनसिंह का 'श्यामा-स्वप्न' इसी प्रकार का निबन्ध है। बालमुकुन्द गुप्त के निबन्ध 'शिवशम्भु का चिट्ठा' सुन्दर व्यंग्यात्मक निबन्ध का प्रतिनिधि उदाहरण है। पंडित गणपति जानकीराम दुबे तथा कृष्णबलदेव वर्मा इसी श्रेणी के निबन्ध-लेखक थे।

४. विवरणात्मक-निबन्ध—यह बहुत कुछ तो वर्णनात्मक-निबन्धों के ही समान होते हैं परन्तु अधिकांश रूप से बीती हुई कथाओं, घटनाओं, युद्धों, यात्राओं आदि का वर्णन इनका

वेषय रहता है, महाराजकुमार रघुवीरसिंह के 'शेष-स्मृति' संग्रह में इस कोटि के कुछ अच्छे निबन्ध हैं यद्यपि अपनी चरमसीमा पर आकर वह भी भावात्मक बन गए हैं।

वास्तव में हिन्दी साहित्य में निबन्ध-शाखा अभी पल्लवित हो रही है। फल-युक्त होना अभी दूर की बात मालूम होती है।

---

[८]

जीवन-चरित

मनुष्य के लिए मनुष्य ही सबसे बड़ी पहेली है। मानव सभ्यता का विकास मानव-विचारधारा और मानव-व्यक्तित्व के विकास का स्वाभाविक क्रमिक उन्नति का इतिहास है। साहित्य में इसी मानव-जीवन की भावनाओं और विचारों की अभिव्यंजना होती आई है। जीवन-चरित भी किसी विशेष मनुष्य के व्यक्तित्व को सामने रखता है। किसी व्यक्ति की जीवनी उस व्यक्ति के आदि से लेकर अन्त तक के उन विचारों और घटनाओं का ब्योरा होती है जो समय-समय पर उसके जीवन में प्रादुर्भूत हुए। घटनाएँ पाठक को चरित-नायक के वातावरण और उसके कार्य-व्यापारों का स्मरण दिलाती हैं और इस प्रकार घटनाओं की पृष्ठभूमि में पाठक चरित-नायक के व्यक्तित्व का परिचय प्राप्त करता है।

साहित्य में भाव और विचारों की अभिव्यंजना होती है। जीवन-चरित भी चरित-नायक की इन दोनों परिस्थितियों का वर्णन करता है अतएव साहित्यांगों में उसे स्थान मिलना ही चाहिए। जीवन-चरित साहित्यकार को समझने और पहचानने में बड़ा सहायक होता है। मोन्तेन्ज (Montaigne) ने कहा था—

"मैं उन लेखकों की रचनाओं को अधिक रुचि से पढ़ता हूँ जो जीवन-चरित लिखते हैं; क्योंकि सामान्यतया मनुष्य, जिसके पहचानने के लिए मैं सदा प्रयत्नशील रहा हूँ, साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा जीवन-चरित में कहीं अधिक विशद तथा परिपूर्ण होकर प्रकट होता है। साथ ही उसकी आंतरिक गुणावलियों की यथार्थता तथा बहुविधता, इन उपायों की, जिनके द्वारा वह संश्लिष्ट तथा सुसंबद्ध रहता है, और उन घटनाओं की, जो उस पर घटती हैं, बहुविधता मुझे जैसी जीवन-चरित की परिधि में सम्पन्न होती दीखती हैं, वैसी अन्यत्र नहीं।"

मोन्तेन्ज ने जीवन-चरित की जो व्याख्या ऊपर की है वह वास्तव में सत्य है। जीवन-चरित हमें चरित-नायक के शरीर और आत्मा में प्रवेश कराकर एक ऐसे सुरक्षित स्थान पर बैठा देता है जहाँ से हम निष्पक्ष दृष्टि से अधिकार के साथ व्यक्ति के कार्य-व्यापार, विचारधारा और इन दोनों के समन्वय को ध्यान से देखकर किसी निर्णय पर पहुँच सकते हैं। व्यक्ति का हृदय और मस्तिष्क एक व्यवच्छेद अथवा अंगच्छेद की भाँति स्फटिक की तरह स्पष्ट दिखाई देता है। किसी ने कविता ही क्यों लिखी? अथवा उपन्यास ही क्यों लिखा?; कोई राजनीतिक नेता ही क्यों बना? किसी ने दर्शन-क्षेत्र में ही क्यों विजय प्राप्त की? कोई भक्त ही क्यों बना? आदि असंख्य प्रश्नों के उत्तर हमें जीवन-चरित में मिल जायेंगे। अतएव मनुष्य को समझने के लिए उसके जीवन-चरित का अध्ययन

आवश्यक है। जो लोग किसी व्यक्ति के कार्य को उसके जीवन से पृथक् सत्ता देते हैं वे बड़ी भूल करते हैं।

हिन्दी-साहित्य में जीवन-चरित की परम्परा बहुत पुरानी है। नाभादास का 'भक्तमाल' और बाबा बेनीमाधवदास का गोसाईं-चरित हिन्दी की पुरानी जीवनियाँ हैं। महाराज रघुराजसिंह की 'रामरसिकावली', भारतेन्दु का 'उत्तरार्ध-भक्तमाल', राधाचरण गोस्वामी का 'नव भक्तमाल' तथा ध्रुवदास की 'ध्रुवमाला' आदि अन्य जीवन-चरित भी हिन्दी-साहित्य में यथासमय लिखे गए।

इन जीवनियों की विशेषता यह है कि यह शैली की दृष्टि से पद्य में अधिक हैं गद्य में कम। लेखकों ने अनेक चरित-नायकों के जन्म, मरण अथवा माता-पिता एवं अन्य घटनाओं का विवरण न देकर उनके चरित की विशेषताओं का उल्लेख कर दिया है। इसका कारण यह है कि भारतीय परम्परा व्यक्तिगत जीवन को महत्त्व नहीं देती। वह तो असीम विराट् का एक अंश-मात्र है। लेखकों ने भी जीवन को तुच्छ मान कर अपनी विनम्रता के आवेग में आकर अपने विषय में कुछ नहीं लिखा। कबीर, सूर, तुलसी आदि अनेक लेखकों की जीवन-गाथाएँ इसी लिए विस्मृति के महान् अंधकार में विलीन हो गईं।

आधुनिक रीति से जीवनियों का लिखा जाना लगभग सन् १८८२ ई० से आरंभ हुआ जब भारतेन्दु ने, पुरानी परम्परा की रक्षा करते हुए भी, 'चरितावली' लिखी। उससे पहिले गद्य में

'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' और 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' लिखी जा चुकी थीं परन्तु उनमें भी उन घटनाओं को ही प्रधानता दी गई है जिनका प्रभाव चरित-नायक के विचार-परिवर्तन पर पड़ा। भारतेन्दु के समकालीन तथा परवर्ती लेखकों ने अनेक जीवन-चरित प्रस्तुत किए हैं। इनको कई वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

१. संतों के चरित।

२. राजनैतिक महापुरुषों के चरित।

३. ऐतिहासिक चरित—इतिहास-प्रसिद्ध वीर पुरुषों और राजाओं आदि की जीवनियाँ।

४. विदेशी पुरुषों के चरित।

उपरोक्त सभी प्रकार की जीवनियों में लेखक ने अपने चरित-नायक के जीवन का विश्लेषण प्रस्तुत किया है। वह उसका अपना दृष्टिकोण है। अतएव इस प्रकार की जीवनी में यह संभावना बनी रहती है कि लेखक नायक के समझने में कहीं ग़लती कर जाय! इसमें सन्देह नहीं कि उसका प्रयास यही रहता है, और रहना भी चाहिए, कि वह नायक का जीवन यथातथ्य रूप में निष्कपट भाव से पाठकों के समक्ष रख दे, परन्तु देखा जाता है कभी-कभी वीर-पूजा-भाव के कारण अथवा अपने चरित-नायक के प्रति असीम श्रद्धा होने के कारण, लेखक का विश्लेषण निष्पक्ष न होकर अतिरंजित हो जाता है। कभी-कभी अपनी कल्पनात्मक प्रतिभा के कारण अपने चरित-नायक

को आवश्यकता से अधिक ऊँचा उठाकर वह दूसरे का अपमान भी कर बैठता है।

जीवनचरित-लेखक को बड़े संतुलन की आवश्यकता होती है। उसका प्रत्येक विवरण पाठक के मन में सत्यासत्य-धारणा बनाता है। यदि यह धारणा सत्य पर अवलम्बित न रही तो असत्य के समर्थन से जो हानि समाज में हो सकती है, उसका डर सदैव बना रहेगा। अतएव जीवनीकार को निष्पक्ष, अनुभवी, वर्गहीन दृष्टिकोण-धारक, स्पष्ट और सहनशील तथा सहानुभूतिपूर्ण होना चाहिए। अपने विचारों को पाने की अभिलाषा से किसी व्यक्ति के जीवन को देखने का साहस उसे नहीं करना चाहिए।

इसी प्रकार साहित्य में जीवन-चरित वही सुन्दर और स्थायी होगा जो सत्य की कसौटी पर खरा उतर सके। साहित्य समाज और व्यक्ति के जीवन-निर्माण में बड़ा सहायक साधन है। जीवन-चरित का प्रभाव जितना अधिक पड़ता है वैसा अन्य साहित्यांग का नहीं।

जीवन-चरित लिखने की अनेक शैलियाँ हैं—

१. ऐतिहासिक शैली—इस शैली में वे सभी जीवनियाँ सम्मिलित हैं जो चरित-नायक की अपेक्षा किसी अन्य लेखक द्वारा लिखी गई हों। यह लेखक चरित-नायक का मित्र, सम्बन्धी, समकालीन, परवर्ती आदि किसी भी प्रकार का हो सकता है। ऐतिहासिक शैली की जीवनियाँ वर्णनात्मक और विवरणात्मक होती हैं।

२. आत्मचरित-शैली—इस शैली की जीवनियों का लेखक स्वयं चरित-नायक होता है। लेखक के लिए अपने चरित का विश्लेषण सुगम काम नहीं है सब ओर से साहस बटोर कर लेखक आत्म-विश्लेषण करने बैठता है। ऐसा करने से पहिले उसे अपनी आत्मा को उज्ज्वल और गर्वहीन बनाने की आवश्यकता होती है। अपनी कमज़ोरियों को पहिचानना और सबके सामने उन्हें स्वीकार करना साधारण आत्मा का कार्य नहीं है। इसलिए प्रायः देखा जाता है कि आत्मचरित-लेखक अपनी जीवन की कमजोरियों का वर्णन न कर अपनी कुछ महत्त्वपूर्ण जीवन-घटनाओं का उल्लेख कर देते हैं। शेष अंश में वह अपनी विचारधारा का विश्लेषण प्रस्तुत कर अपने कर्तव्य की इतिश्री मान लेते हैं। ऐसा ग्रन्थ आत्म-चरित नहीं कहला सकता। वह अधिक से अधिक उनका 'मानसिक-चरित' हो सकता है।

हिन्दी में सबसे प्रथम आत्म-चरित स्व० बनारसीदास जैन की 'आत्म-कथा' (आत्म-कथानक) है। यह अधिकांश में घटनाओं का वर्णन है। बाद को आत्म-परिचय रूप में स्वामी दयानन्द का 'स्वरचित जीवन-चरित्र' (१९१७) निकला; सत्यानन्द अग्निहोत्री की रचनाएँ 'मुझमें देव-जीवन का विकास' (१९१०), अपने देव-जीवन के विकास और जीवन-व्रत की सिद्धि के लिए मेरा अद्वितीय त्याग' (१९१५) तथा 'अपने छोटे भाई के संबंध में मेरी सेवाएँ' (१९२१), भाई परमानन्द की 'आप-बीती' (१९२१); स्वामी श्रद्धानन्द का 'कल्याण-मार्ग

का पथिक' (१६२४) आदि आत्म-चरित्र भी हिन्दी में लिखे गए। सब से अन्तिम रचनाएँ गुलाबराय और वियोगी हरि की आत्म-कथाएँ हैं। अनुवाद रूप में गांधीजी की 'आत्म-कथा' नेहरू की 'मेरी कहानी' और राजेन्द्रप्रसाद की 'आत्म-कथा' भी प्रकाशित हो चुकी हैं। कहना पड़ेगा जो सचाई 'आत्मकथा' में है वह किसी में नहीं। बापू इतने महान् कैसे बन सके यदि यह जानने की इच्छा है तो उनकी 'आत्म-कथा' ही उसके लिए प्रामाणिक पुस्तक है।

३. डायरी-शैली—दिनचर्या के रूप में लेखक अपने जीवन की घटनाओं और मानसिक विचारों का लेखा रखता जाता है। यद्यपि इन सब का विवरण भी वह बिल्कुल तटस्थ होकर नहीं कर सकता परन्तु आत्म-चरित की अपेक्षा उसका संकोच इस शैली की व्याख्या में कम रहता है। लेखक जानता है कि उसके विवरण दूसरों के काम आयेंगे अतएव वह अपने मर्म को विशेषकर अवांछित प्रसंग को ज्यादा ढकता नहीं। उसका आवरणहीन वर्णन सत्य-वर्णन की तरह अंकित होता रहता है। घटनाओं और विचारों में असम्बद्धता भी उसे अपने चेतन को काम में लाने से रोक लेती है। प्रायः देखा जाता है कि संकोच का उद्भव तभी होता है जब घटनाओं का सामूहिक प्रभाव दिखाया जाय। डायरी-शैली में यह स्थिति होने ही नहीं पाती। परिणामतः लेखक तटस्थरूप से अपेक्षाकृत अधिक आत्म-विश्लेषण कर डालता है।

घनश्यामदास बिड़ला के 'डायरी के कुछ पृष्ठ' (१९४१), इस शैली की एक रचना है। और भी कुछ लेखक इसकी ओर प्रयत्नशील हैं। अनुवादों में सब से उत्तम और उपयोगी 'महादेव भाई की डायरी' है जो उनके, बापू के और अन्य सहयोगियों की जीवनी, मानसिक विचारधारा एवं आत्म-विकास की भिन्न स्थितियों पर बड़ी मार्मिक एवं सत्य प्रकाश डालती है।

जीवन-लेखक का उत्तरदायित्व बड़ा गहन है। उसे देखना है कि जो कुछ वह कह रहा है, वास्तव में वही कथनीय है और उसमें कुछ भी अनर्गल नहीं है। उसे देखना है जो कुछ वह दे रहा है वह सामान्य से ऊँचा है और उससे भिन्न होने के कारण प्रेरणात्मक एवं उत्साह-वर्धक है; उसे देखना है जो कुछ वह कह रहा है वह संक्षिप्त और सत्य है अतिरंजित नहीं; उसे देखना है कि वह जीवन की विषमताओं में एकता का साम्राज्य स्थापित करता है और बताता है कि जीवन की विविधता एक-रूपता की ओर एक सफल प्रयास है और उसे यह संदेश देना है कि विफलता जीवन में उद्योग करने की प्रेरणा है क्योंकि असफलता नाम की कोई चीज संसार में नहीं।

यदि लेखक स्वयं है तो उसका विश्लेषण वैयक्तिक होना ही चाहिए और यदि लेखक कोई दूसरा है तो उस का प्रतिपादन अवैयक्तिक रूप में होना चाहिए। जीवन-चरित ही ऐसा साहित्यांग है जिसमें अभिव्यंजना के दोनों रूप परिस्फुट होकर जीवन को प्रकाशमान बनाते हैं।

---

[६]

आलोचना का महत्त्व

आलोचना शब्द संस्कृत तत्सम शब्द है जो लुच् (देखना) धातु से बना है। इस धातु से 'लोचन' (देखने वाला या नेत्र) शब्द की व्युत्पत्ति होती है। 'लोचन' के पूर्व 'आङ्' उपसर्ग लगता है जिसमें 'ङ्' का लोप हो जाने से 'आलोचन' शब्द बनता है। इसके पूर्व में 'सम्' उपसर्ग और अन्त में 'टाप्' प्रत्यय के करने से 'समालोचना' बनता है। अतएव समालोचना का अर्थ हुआ 'सब प्रकार से विधिपूर्वक किसी वस्तु के देखने की व्यवस्था।'

अतएव साहित्यिक समालोचना का अभिप्राय है 'साहित्य को सम्यक् प्रकार से देखने की एक विशेष व्यवस्था या विधि।

साहित्य की आलोचना करने के लिए 'साहित्य क्या है ?' साहित्यांग क्या है ? प्रत्येक का सृजन किस प्रकार होता है ? प्रत्येक साहित्यांग के लक्षण क्या हैं ? साहित्य में गुण और दोष क्या होते हैं ? साहित्य के तत्त्व से क्या अभिप्राय है ? आदि-आदि प्रश्नों के उत्तर की जानकारी आवश्यक है। जब तक किसी वस्तु के बाह्य एवं आन्तरिक प्रकृति और स्वरूप का पूर्ण ज्ञान न हो जाय तब तक उसकी आलोचना कैसे हो सकती

है ? फिर जानकारी होना ही तो पर्याप्त नहीं है । गुण-दोष का विवेचन करने के उपरान्त उनके 'सुन्दर', 'असुन्दर' का निर्णय करने की बुद्धि भी तो आवश्यक है । बिना किसी निर्णय के आलोचना का प्रयोजन ही क्या ? एतदर्थ आलोचक केवल निरीक्षक ही नहीं होता वरन् निर्णायक भी होता है ।

साहित्यिक कृति पर एकाएक निर्णय दे देना सुगम नहीं है । इसके लिए आलोचक को आलोच्य विषय के ज्ञान के साथ ही साथ निष्पक्ष, सत्यवक्ता, विशाल-हृदयी, सहानुभूतिपूर्ण, तर्कशक्ति-सम्पन्न, विवेकशक्ति-युक्त और प्रतिभावान् भी होना चाहिए । इसके लिए आवश्यक है कि वह नीर-क्षीर-विवेचक हो, छिद्रान्वेषण की भावना से रहित हो, दोषों को प्रगट करने वाला और गुणों की सराहना करने वाला हो, सुरुचि और भावुकता से पूर्ण हो और साहित्य के सभी स्वरूपों—काव्य, शास्त्र आदि—का ज्ञाता हो ।

आलोचना को कई भागों में बाँटा जा सकता है—

१. वह आलोचना जिसका उद्देश्य किसी कृति का केवल गुण-दोष-प्रदर्शन हो । आलोचक केवल दोनों का विश्लेषण कर देता है परन्तु अपना निर्णय न देकर, उसे पाठकों पर छोड़

दी जाती है। दुर्बोध को सुबोध बना दिया जाता है।

३. वह आलोचना जिसका उद्देश्य रचना का मूल्यांकन करना हो। ऐसी आलोचना में आलोचक गुण-दोष का विवेचन भी करता है, जटिल अंशों की आवश्यकतानुसार व्याख्या भी करता है और इन दोनों के आधार पर अपना निर्णय भी देता है। यह निर्णय ही रचना का मूल्यांकन है जिसकी कसौटी विषय-सम्बंधी शास्त्रीय लक्षण है। कभी-कभी अन्य लेखकों की रचनाओं से तुलना कर वह तुलनात्मक आलोचना सामने प्रस्तुत करता है और बताता है कि कौन-सा लेखक अन्य लेखकों की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट है। ऐसा करने से ही वह किसी लेखक का साहित्य में स्थान निर्धारित करने में समर्थ हो सकता है। आलोचना के साथ-साथ वह साहित्य की युगकालीन आवश्यकता-अनावश्यकता पर भी प्रकाश डालता चलता है और इस प्रकार अपनी आलोचना से पाठकों का पथ-प्रदर्शक बन जाता है।

आलोचना ऐतिहासिक (Historical criticism), शास्त्रीय (नियमों के अनुकूल) और रूढ़िगत नियमों के अनुकूल भी हो सकती है तथा प्रभाववादी (Impressionistic) भी। आलोचना की शैली वैज्ञानिक होनी चाहिए।

समालोचना की आवश्यकता

मानव प्रगतिशील है। वह निरन्तर बढ़ना चाहता है। आगे बढ़ने का अभिप्राय है वर्तमान के स्तर से ऊपर उठना।

इस उन्नति के दो मूलमंत्र हैं—वर्तमान के अभावों का विनाश और भविष्य के पूर्णत्व-विधान का निर्माण। यह तभी संभव है जब पहले त्रुटियों को पहचाना जाय और फिर उन्हें दूर किया जाय। अहंभाव से काम नहीं चल सकता अवैयक्तिक दृष्टिकोण और तटस्थता की भावना ही प्रगति की ओर ले जाने वाली है। चाहे व्यक्ति का विश्लेषण हो चाहे समाज का और चाहे किसी युग का। सभी में उपरोक्त भाव-दृष्टि आवश्यक है।

साहित्य समाज का दर्पण है। वह किसी युग की विचार-धारा का प्रतिबिम्ब है। मानवता के विकास में इतिहास का सुरक्षित विश्व-कोष है। उसमें मानवी वृत्तियों के 'सु' और 'कु' सभी लिपिबद्ध रहते हैं। उसका क्षेत्र जीवन का बहुरूपात्मक स्वरूप है। वह हमारे मर्म को छूता है, हमारे मस्तिष्क को उत्तेजना प्रदान करता है और आत्मा को उदात्त बनाता है। जिस साहित्य का महत्त्व इतना अधिक हो, जिस साहित्य का उत्तरदायित्व इतना गंभीर हो उसके स्वरूप की आलोचना अवश्यम्भावी है।

साहित्यकार अपने युग की परिधि ही में बन्दी नहीं रहता। उसकी कल्पना, उसकी अनुभूति और उसकी भावुकता यथार्थ को आदर्श बनाने में संलग्न रहती है। ऐसे साहित्यकार के चित्र अतिरंजित न होकर जीवन पर स्वास्थ्यप्रद प्रभाव डालें—इसलिए साहित्यकार की आलोचना भी आवश्यक है।

साहित्य चरित्र-सुधारक है, वह रुचि का परिष्कार करने वाला है, संस्कृति का मापदंड है, वह व्याकुल जनता में संतोष का संचार करने वाला है, आर्थिक असंतुलन की विषम परिस्थितियों में, राजनीतिक आदर्शों की विभिन्नताओं के रहते हुए भी, मानवता की प्रतिष्ठा कराने वाला है। साहित्य मानव को मानव भी रखता है और उसे देवता भी बनाता है। वह वेदना, हास्य, रति, क्रोध आदि सभी वृत्तियों का चतुर संग्रह-कर्ता है। जिस साहित्य का हमारे जीवन से इतना गहरा नाता है उसकी आलोचना, उसके सत्यासत्य का निर्णय परम आवश्यक है।

कलाकार की कला इसमें है कि वह कला को छिपाकर एक संकेत-मात्र दे दे और आलोचक का कार्य है कि छिपी हुई कला को स्पष्ट कर दे।

भारतीय विद्वानों ने साहित्य की रचना की। जिसमें कम अक्षर हों, जिसका अर्थ स्पष्ट, गंभीर तथा व्यापक हो वह 'सूत्र' कहलाया। उन्होंने आलोचना का भी निर्माण किया। जिसमें सूत्रों का सारांश वर्णित हो वह 'वृत्ति' कहलाई। सूत्र और

इन उन्नति के दो मूलमंत्र हैं—वर्तमान के अभावों का विनाश और भविष्य के पूर्णत्व-विधान का निर्माण। यह तभी संभव है जब पहले त्रुटियों को पहचाना जाय और फिर उन्हें दूर किया जाय। अहंभाव से काम नहीं चल सकता अवैयक्तिक दृष्टिकोण और तटस्थता की भावना ही प्रगति की ओर ले जाने वाली है। चाहे व्यक्ति का विश्लेषण हो चाहे समाज का और चाहे किसी युग का। सभी में उपरोक्त भाव-दृष्टि आवश्यक है।

साहित्य समाज का दर्पण है। वह किसी युग की विचार-धारा का प्रतिबिम्ब है। मानवता के विकास में इतिहास का सुरक्षित चित्र-कोष है। उसमें मानवी वृत्तियों के 'सु' और 'कु' सभी लिपिबद्ध रहते हैं। उसका क्षेत्र जीवन का बहुरूपात्मक स्वरूप है। वह हमारे मर्म को छूता है, हमारे मस्तिष्क को उत्तेजना प्रदान करता है और आत्मा को उदात्त बनाता है। जिस साहित्य का महत्व इतना अधिक हो, जिस साहित्य का उत्तरदायित्व इतना गंभीर हो उसके स्वरूप की आलोचना अवश्यम्भावी है।

साहित्यकार अपने युग की परिधि ही में वन्दी नहीं रहता। उसकी कल्पना, उसकी अनुभूति और उसकी भावुकता यथार्थ को आदर्श बनाने में संलग्न रहती है। ऐसे साहित्यकार के चित्र अतिरंजित न होकर जीवन पर स्वास्थ्यप्रद प्रभाव डालें—इसलिए साहित्यकार की आलोचना भी आवश्यक है।

साहित्य चरित्र-सुधारक है, वह रुचि का परिष्कार करने वाला है, संस्कृति का मापदंड है, वह व्याकुल जनता में संतोष का संचार करने वाला है, आर्थिक असंतुलन की विषम परिस्थितियों में, राजनीतिक आदर्शों की विभिन्नताओं के रहते हुए भी, मानवता की प्रतिष्ठा कराने वाला है। साहित्य मानव को मानव भी रखता है और उसे देवता भी बनाता है। वह वेदना, हास्य, रति, क्रोध आदि सभी वृत्तियों का चतुर संग्रह-कर्ता है। जिस साहित्य का हमारे जीवन से इतना गहरा नाता है उसकी आलोचना, उसके सत्यासत्य का निर्णय परम आवश्यक है।

कलाकार की कला इसमें है कि वह कला को छिपाकर एक संकेत-मात्र दे दे और आलोचक का कार्य है कि छिपी हुई कला को स्पष्ट कर दे।

भारतीय विद्वानों ने साहित्य की रचना की। जिसमें कम अक्षर हों, जिसका अर्थ स्पष्ट, गंभीर तथा व्यापक हो वह 'सूत्र' कहलाया। उन्होंने आलोचना का भी निर्माण किया। जिसमें सूत्रों का सारांश वर्णित हो वह 'वृत्ति' कहलाई। सूत्र और

वृत्ति के विवेचन (परीक्षा) को 'पद्धति' की संज्ञा दी गई। इनमें कहे हुए सिद्धान्तों पर आक्षेप करके फिर उसका समाधान कर, उन सिद्धान्तों का विवरण 'भाष्य' कहलाया। भाष्य के बीच में प्रकृत विषय को छोड़कर दूसरे विषय का जो विचार किया गया उसे 'समीक्षा' कहा गया। इन सब में जितने अर्थ सूचित हों उन सब का यथासंभव 'टीकन' (उल्लेख) जिसमें हो उसे 'टीका' कहा गया। और इसी प्रकार 'पंजिका', 'कारिका' और 'वार्तिक' आदि भी बने।

भारतीय आलोचना का उपरोक्त स्वरूप बड़ा व्यंजक और पूर्ण था। अनेक आचार्यों ने स्वतंत्र ग्रन्थ न लिखकर उन पर उपरोक्त प्रकार की किसी आलोचना को लिखकर अपने को धन्य समझा। आचार्य अभिनवगुप्त भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' एवं 'ध्वन्यालोक' के अपूर्व आलोचक थे। उनके 'नाट्य वेद-विवृति' और 'लोचन' के अभाव में उक्त ग्रन्थों के अनेक जटिल स्थल अस्पष्ट ही रह जाते।

शक्ति का परिचय प्राप्त होता है परन्तु उनके पास व्याख्यात्मक प्रणाली का अभाव था। यहाँ तक कि भिखारीदास जैसे व्यक्ति ने भी अपने 'काव्य-निर्णय' में प्राचीन परम्परा का ही अनुसरण किया है। यथास्थान जो टिप्पणी उन्होंने दी हैं वे सब बहुत ही कम हैं।

आलोचना का वर्तमान रूप अंग्रेजी साहित्य के सम्पर्क से आया है। उपन्यास और निबन्ध जैसे नवीन साहित्यांगों के विकास और उनके लक्षणों पर पश्चिमीय आलोचना-शास्त्र का सर्वांशतः प्रभाव है। परन्तु अन्य साहित्यांगों का विकास स्वतंत्र रूप से हुआ है। यदा-कदा जो मिश्रण भारतीय एवं पश्चिमीय दृष्टिकोण का मिल जाता है उसका कारण केवल परस्पर का परिचय और आदान-प्रदान है।